

अनुप्रेक्षा प्रवचन

चतुर्थ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ पूज्य श्री
१०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णा “सहजानन्द” महाराज

जीवा हवंति तिविहा बहिरप्या तह य अंतरप्या य।

परमप्या वि य दुविहा अरहंता तह व सिद्धा य ॥ १९२ ॥

जीवके भेदोंका शान्तिमार्गदर्शक पद्धतिसे वर्णन—शान्तिके लिए एक प्रधान साधन है पदार्थका यथावत स्वरूप समझ लेना। जीवकी शान्तिका सम्बंध ज्ञानके साथ है, धन, वैभव, इज्जत और और भी बाहरी चीजें समागम कुटुम्ब इनके साथ नहीं है। ज्ञान सही होगा, अपना मन वशमें होगा, ज्ञान द्वारा अपने आपमें बसे हुए सहज भगवानके दर्शन किये जाते होंगे तो वहाँ तृप्ति है, सन्तोष है, शान्ति है और जहाँ ज्ञान नहीं है वहाँ पूर्वकृत पुण्यके उदयसे चाहे कुछ वैभव मिल जाये, चाहे कितनी ही लौकिक प्रतिष्ठा हो जाये, किन्तु वहाँ शान्ति नहीं है। शान्तिके लिए किसी भी बाहरी कमी विघ्नरूप नहीं होती। अपना परिज्ञान हो तो वहाँ शान्ति नियमसे है। उसही ज्ञानके प्रकरणमें लोकानुप्रेक्षामें ६ द्रव्योंका किस-किस प्रकारसे स्वरूप है? यह बतानेके लिए यहाँ दूसरी प्रकारसे जीवोंका भेद प्रभेद बताया जा रहा है। जीव तीन प्रकारके होते हैं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जीवकी यह त्रिविधता सबने स्वीकार की है। कोई जीव, आत्मा, ब्रह्म, इस प्रकारसे तीन मानते हैं, कोई अज्ञानी, ज्ञानी और प्रभु ये तीन प्रकार कहते हैं। यह त्रिविधता सबको माननी पड़ेगी जो जीवतत्व में आस्था रखते हैं।

जीवकी सब पर्यायोंमें अवस्थित जीवके सहज स्वभावका संकेत—इस प्रसंगमें एक बात और जाननी है जीवसे सम्बन्धित, हमें चार तत्व परखने होंगे बहिरात्मापन, अन्तरात्मापन और परमात्मापन और सहज स्वभाव। इन चार बातोंको कुछ दार्शनिकोंने इन शब्दोंमें कहा है ब्रह्म जागृति स्वप्न और अंतःप्रज्ञ। बहिरात्माका नाम जागृति रखा है, अन्तरात्माका नाम सुषुप्ति रखा है, परमात्माका नाम अन्तःप्रज्ञ रखा है और सहजस्वभावका नाम ब्रह्म रखा गया है। यद्यपि स्याद्वाद शासनमें बताये हुये इन चार तत्वोंके स्वरूपमर्मकी तुलना यथार्थ नहीं बैठती, कारण कि वहाँ चार तत्व भिन्न भिन्न रूपसे माने गये और ब्रह्मको अपरिणामी स्वीकार किया गया है जब कि वास्तविकता यह है कि यह ब्रह्मस्वरूप, यह सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्व शाश्वत है और वह जिस प्रकार स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार स्वतः परिणामनशील है। जो भी सत् होता है वह स्वतःसिद्ध और स्वतः परिणामी होता है। तब इस परिणाममें बहिरात्मत्व, अन्तरात्मत्व और परमात्मत्व ये तीन अवस्थायें बनती हैं। अवस्थाकी दृष्टिसे यहाँ यह जानना है कि बहिरात्मापन तो हेय है, अन्तरात्मापन उपाय है और परमात्मापन उपादेय है। अन्तरात्मत्व ऐसा उपाय है कि जिससे बहिरात्मत्वका नाश और परमात्मत्वका अभ्युदय होता है। इन तीन अवस्थाओंका वर्णन करके ही हम सहज ज्ञायक स्वभावकी पहिचान कर सकेंगे। इस कारण सर्वप्रथम इन तीन अवस्थाओंका वर्णन किया जा रहा है। समयसार में

भी जब यह संकल्प किया कि मैं समयप्राभृतको कहूंगा तो समयका वर्णन करना चाहिए ना। समय मायने आत्मा। तो पूछा गया कि समय क्या है? तो एक प्रारम्भमें उत्तर दिया गया कि दर्शन ज्ञान चारित्र्यमें स्थित रहे वह स्वसमय है। और जो पुद्गल कर्म व्यपदेशमें स्थित है वह परसमय है। पूछा तो गया कि समय क्या है? और उत्तर दिया गया अवस्थाओंका। यह पद्धति क्यों अपनाई? इस लिए कि अवस्थाओंका परिज्ञान करके समझा जायेगा कि जो एक पदार्थ दोनों अवस्थाओंमें है वह है समय। तो यहाँ तीन अवस्थाओंका वर्णन किया जा रहा है बहिरात्मा, रहता अन्तरात्मा और परमात्मा।

बहिरात्मा व अन्तरात्माका स्वरूप—बहिरात्मा वह कहलाता है जो बाह्यद्रव्य विषयोंमें शरीर पुत्र स्त्री आदिक चेतन अचेतन रूपोंमें जिनकी आत्मा है वह बहिरात्मा है याने जिनका उपयोग बाह्यपदार्थोंमें फंसा हुआ है वे बहिरात्मा हैं। देह और जीवको जो एक मानते हैं, वे बहिरात्मा हैं। जहाँ इतने निकट देहको अपना माननेपर बहिरात्मत्व दिखाया है वहाँ प्रकट भिन्न परपदार्थोंमें कोई आत्मा माने तो वह बहिरात्मा है, यह प्रकट ही सिद्ध है। अन्तरात्माका अर्थ है अन्तः अन्तरङ्गमें जिसका आत्मा हो। शरीरादिकसे भिन्न प्रतिभासमान आत्मा जिसका अन्तः हो उसे अन्तरात्मा कहते हैं याने जिसने अपने सहज अंतस्तत्वको आत्मारूपसे स्वीकार किया है वह अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा होनेकी पहिचान दूसरा कोई न जान सकेगा, खुद समझ सकते हैं। अपनी रुचिको निरखें कि मेरी रुचि किस ओर है? क्या जगतके सारे समागमोंसे हटकर मेरी रुचि मेरे सहज ज्ञानस्वरूपके उपयोगके लिए है? यदि है तो अन्तरात्मापन है, यदि नहीं है अंतः रुचि, परद्रव्योसे भिन्न अपने आपके स्वरूपमें रुचि नहीं है तो अन्तरात्मापन नहीं प्रकट हुआ।

स्वयंमें धर्मप्रयोग किये बिना धर्मात्मत्वके अभ्युदयका अभाव—देखिये धर्मप्रचारके अर्थ अपनी-अपनी सम्हाल करनेकी फिक्र कीजिए। जैसे कितने ही लोग चाहते हैं कि मैं धर्मका प्रचार करूँ, बहुतसे लोगोंसे त्याग करा दूँ, बहुतसे लोगोंको बात समझा दूँ, ये लोग कहने लगे कि यह धर्म अच्छा है तो इस फिक्रमें बड़ा परिश्रम करते हैं और अपने आपकी कुछ सुध-बुध भी नहीं है, अपने आपकी कोई कृपा ही नहीं है। फल यह होता है कि उनका प्रयत्न निःसार होता है व लोग प्रभावित नहीं बन पाते। और, इस तरह अगर सभी लोग करने लगे कि दूसरोंसे धर्म करावें, दूसरोंको धर्म सिखावें, दूसरे लोग मानने लगे कि धर्म अच्छी चीज है, यदि सभी लोग ऐसा ही करें तो बताओ एक व्यक्तिके भी धर्म कर पाया क्या? वहाँ एकने भी धर्म नहीं किया। और, कोई पुरुष ऐसा है जो अपने आपमें ज्ञान प्रकट करके अपने आपमें शान्तिका मार्ग अपना रहा है तो लो वह एक तो धर्मात्मा हुआ, और उसके सम्पर्कमें जो लोग होंगे वे भी प्रभावित होकर स्वयं धर्मात्मा बन सकेंगे। तो खुदपर धर्म प्रयोग करनेसे धर्मत्व आता है, दूसरोंपर प्रयोग करनेसे नहीं आता। एक बार बीरबल और बादशाह (अकबर)से परस्परमें बात हुई, बादशाहने पूछा कि ऐ बीरबल सच बताओ कि अपने इस नगरमें सभी नागरिक मेरे सच्चे आज्ञाकारी हैं या ऊपरसे ही आज्ञा मानते हैं, भीतरमें मायाचार भरा है। तो बीरबलने उत्तर दिया कि हजूर इसके उत्तर दोनों हैं। आप जिस रूपमें लोगोंको देखना चाहें देख सकते हैं। वस्तुतः ये सभी आज्ञाकारी हैं भी और नहीं भी हैं। तो अकबर बादशाहने पूछा बताओ किस तरह ये नागरिक हमारे सच्चे आज्ञाकारी नहीं है? तो बीरबलने क्या किया कि रात्रिके ८-९ बजे ऐसा ऐलान करवा दिया नगरमें कि महाराजने अपने आँगनमें एक बड़ा हौज बनवाया है। आज उन्हें कई मन दूधकी आवश्यकता है, सो सभी लोग अपने-अपने घरसे एक एक सेर दूध लाकर हौजमें डाल जावें। अब चूँकि रात्रिका समय था, सभी लोगोंने अपने-अपने मनमें सोच लिया कि और लोग तो दूध लावेंगे ही, एक हम दूध न ले गए तो क्या हुआ? सो एक सेर पानी भरकर डालने गए। ऐसा ही सभीने सोचा और किया। जब सबेरा हुआ तो क्या देखा गया कि वहाँ

दूधका नाम नहीं, सारा हौज पानीसे भरा था। बस बादशाहने वास्तविकता समझ ली। तो यों ही समझ लो अगर सभी लोग ऐसा सोचने लगें कि ये सभी लोग धर्मात्मा बन जावें, एक हम न बन पाये तो क्या हुआ, तो भला बतलावो इस तरहसे कोई धर्मात्मा बन सकेगा क्या? धर्म है आत्माकी क्षोभ मोहरहित परिणति। खुदको क्षोभ न जगे, मोह न हो, स्नेह न हो तो वहाँ धर्म प्रकट होता है और बाकी तो ज्ञानके अभावमें जितने धर्मके लिए श्रम किए जाते हैं वे दिलबहलावा हैं और मोहकी पुष्टि हैं। तो तथ्य समझना चाहिए और अपने आपपर अब कुछ दया करना चाहिए। अपनेको बहुत सता डाला, अनन्त भवोंमें अपने आपको बरबाद करते चले आये और रात दिन बेसुधी, फिक्र, अशान्ति बोझसे लदे बने रहते आये। जरा मोहके बोझको उठाकर फेंको और जो वास्तविक परमार्थ स्वरूप है उसके दर्शन करो, आप पवित्र हो जायेंगे, धन्य हो जायेंगे।

अन्तःस्वभावकी अन्तःप्रकाशमानता—अपने अन्तस्वरूपको जिसने पहिचाना है, उसमें जिसका उपयोग गया है वह आत्मा अन्तरात्मा कहलाता है, अर्थात् परमसमाधिमें स्थिर होते हुए देहसे भिन्न ज्ञानमय परमात्माको जो जानते हैं उन्हें अन्तरात्मा कहते हैं। अपना भगवान अपने आपमें बसा हुआ है। उसको निखरनेकी पद्धति निरखेंगे तो दर्शन होंगे। दो-चार किलो कोई दूध लाये तो बतलाओ उसमें घी होता है कि नहीं होता है?...होता है, मौजूद है, यों ही अपने आपमें परमात्मा बसा हुआ है। पर यों ही नहीं प्रकट होता, यों व्यक्तरूप नहीं है, किन्तु अपने आपको मथकर चिन्तन करके बिलोकर, तपाकर अपने आपमें उस परमात्माके दर्शन किए जा सकते हैं। इस महान कार्यके लिए बहुत तपश्चरणकी आवश्यकता है, बलिदानकी आवश्यकता है। बलिदान किसका? इच्छाओंका। इच्छाओंका त्यागना, विकारोंसे चित्त हटाना। और, जो बाह्य समागम परिकर मिले हैं उनसे उपयोग हटाना बहुत बड़े तपश्चरणकी आवश्यकता है, तब हम पायेंगे अपने आपमें अपने प्रभुके दर्शन। मोहीजनोंको यह बात कहाँ रुचती है? उन्हें तो वही रुचता है जो भव-भवमें करते आये।

उच्छिष्ट भोगोंसे हटकर निज शरण सहज नाथकी उपासनामें कल्याणलाभ—संसारके ये पदार्थ जो आज भोगनेमें आ रहे हैं या जिनके लिए तरसते हैं ये पदार्थ अनेक बार भोगे गए, अतएव इन्हें कह सकते कि ये सब झूठे पदार्थ हैं। लेकिन ये कातर, अज्ञानी, गरीब प्राणी इनको ही भोग करके सन्तुष्ट होना चाहते हैं। अरे जरा इनसे उपेक्षा करके यह मानकर कि मेरा यहाँ कोई सम्मान नहीं है, कोई इज्जत नहीं है, कोई मुझे जानता नहीं है, अरे नहीं जानती दुनिया तो न जाने, और हो जाये ऐसा कि मुझे कोई पहिचानने वाला न रहे, मैं अपने आपमें खुद दिखता रहूँ, बस यही चाहता हूँ और इसके आगे कुछ वाञ्छा नहीं है। भला आज मनुष्य न होते, कीड़ा-मकौड़ा हुए होते तो इस नगरके, परिवारके, पड़ोसके लोग कुछ पहिचानते क्या? कुछ संबंध था उनका? अरे आज मनुष्य हो गए तो समझो कि हम अब भी सबसे अपरिचित हैं और अपने आपमें अपनेको समझकर अपनी संतुष्टि उत्पन्न करें अपना शरण केवल एक अपना सहज नाथ सहज प्रभु ज्ञानस्वरूप ज्ञानस्वभाव है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई साथ न निभायेगा। हमारा साथ निभा सकने वाला कोई है तो हमारे ही अन्तः बसने वाला हमारा प्रभु निभा सकता है। बाकी जितने भी चेतन अचेतन पदार्थोंका समागम है वे कोई भी वस्तु हमारा साथ नहीं निभा सकते। यह सब ज्ञान जिनके प्रकट हुआ है वे अन्तरात्मा कहलाते हैं।

परमात्माका स्वरूप और सहज स्वरूपका संकेत—परमात्मा कौन है जिसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी उत्कृष्ट है, प्रकट प्रकृष्ट हुई है उन्हें कहते हैं परमात्मा। जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्दसे सम्पन्न है, जिनके बाह्य समवशरण आदिक लक्ष्मी अलौकिक अद्भुत बनी हुई है, उस समवशरणके बीच गंधकुटीपर विराजमान जिनका चारों ओरसे मुख दिख रहा है, जिनकी दिव्यध्वनिसे सभी जीव

कल्याणलाभ कर रहे हैं, जो सशरीर परमात्मा हैं और अघातिया कर्मके नष्ट होनेके बाद शरीररहित सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं ये प्रभु कहलाते हैं, और सहज परमात्मा सहजसिद्ध हैं। इन सब अवस्थाओंमें रहने वाला वह सहजस्वरूप, जिसमें विकारका स्वभाव नहीं है, केवल ज्ञानस्वभाव है ऐसा जो स्वभावदृष्टि करके परखा गया अंतस्तत्व है वह है सहज प्रभु, सहज सिद्ध। इस सहजसिद्ध प्रभुका आलम्बन लेकर अन्तरात्मत्व प्रकट होता है और इस अन्तरात्मा होनेके उपायसे परमात्मत्व प्रकट होता है। तो जीवकी अवस्थायें इन तीन प्रकारोंमें विभक्त हैं।

मोहनिद्राको त्यागकर अन्तःजागरणका सन्देश भैया ! मोहमें कुछ सार नहीं है। बच्चा भी अगर सीख देवे तो उसे भी मान लेना चाहिए। बूढ़ोंको सीख देता ही रहता है बच्चा, मगर यह मोही बाज नहीं आता। छोटे बच्चे बूढ़ोंको खिलानेके लिए दिए जाते हैं, क्योंकि बूढ़े लोग और कुछ तो कामकाज कर सकते नहीं। खेलते हुए वे बच्चे कहते हैं बाबा जी याने हे बाबा, आप अब वा बाजीके हैं, इस बाजीके अब तुम नहीं रहे। अब तो इस बाजीके हम बच्चे लोग हैं। इतनी शिक्षा वे बच्चे लोग देते हैं मगर वह बूढ़ा उन्हीं बच्चोंमें मोह करता है। वह बूढ़ा यही प्रदर्शित करता है कि हम वा बाजीके नहीं हैं हम तो जा बाजीके हैं। शिक्षा थोड़ेमें भी बहुत पायी जा सकती है, किन्तु जो जानबूझकर सोया हुआ हो उसका जगाना बहुत कठिन है, जो सचमुच सो गया हो उसका जगाना सरल है। और कोई यों ही आँखें मींचकर दूसरेको बतानेके लिए सोनेका रूपक बनाये हो तो उसे जगानेमें कौन समर्थ होगा? उसके सामने तो खूब बाजे भी बजाये जायें तो बेकार हैं और जो सचमुच सो गया है वह जगाया जानेपर शीघ्र ही जग जाता है। तो यों ही सोचिए कि हम आपकी ऐसी कठिन अवस्था बन जाती है कि हम श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ जाति, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ समागम पा करके भी चेतते नहीं हैं। तो हमको जगा सकने वाला कौन होगा? इसलिए जो ज्ञान पाया है उसका सदुपयोग करें। अपने आपमें अपने अन्तःस्वरूपके दर्शन करें।

जीवकी त्रिविधताका वर्णन यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जीव तीन प्रकारके हैं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो देह जीवको एक मान रहे वे बहिरात्मा, जो परद्रव्योंसे भिन्न निज ज्ञानस्वरूपमें रुचि रखते हैं वे अन्तरात्मा, जिनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द प्रकट हो गया है, जिनके अब कषायकलंक कलमसतायें नहीं रही है वे कहलाते हैं परमात्मा। परमात्मा दो प्रकारके हैं सकलपरमात्मा और निकलपरमात्मा। कलके मायने शरीर। जब बड़ा तेज होहल्ला मच रहा हो तो लोग कहते हैं कि क्या कल-कल मचा रहे हो, कल-कल मत करो। मायने शरीर-शरीर मत करो। तो हो क्या रहा है? शरीर शरीरसे भिड़ रहे हैं। जहाँ शरीरके बड़े काम चल रहे हों सो कल कल है। कल मायने है शरीर। और कलसे जो सहित है उसका नाम है सकल। शरीर सहित परमात्माका नाम है सकलपरमात्मा। उनका कल अब कल कल वाला नहीं रहा, किन्तु परमौदारिक दिव्य देह हो गया, जिसके शरीरमें निगोद नहीं, जिसके शरीरमें हाड़, मांस, खून जैसी धातुवें नहीं, परमौदारिक दिव्य शरीर है, जिसकी अब छाया भी नहीं पड़ती, भगवानका शरीर ऐसा स्वच्छ है स्फटिक मणिकी तरह कि उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। जैसे देखा हो स्फटिक पाषाण या काँचकी छाया नहीं पड़ती, कहाँ जाये छाया? ऐसे ही इतना स्वच्छ दिव्य देह है प्रभुका कि उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। ऐसे परम अतिशयवान दिव्य देह करके सहित अरहंत भगवान होते हैं। उनमें दो प्रकार हैं एक तीर्थकर अरहंत, दूसरा सामान्य केवली अरहंत। तीर्थकर अरहंत किसे कहते हैं और सामान्य केवली अरहंत कौन कहलाते हैं? इस विषयका अब वर्णन करेंगे।

मिच्छत्त-परिणदप्या तिव्व कसाएण सुद्ध आविट्ठो ।

जीवं देहं एक्कं कण्णंतो होदि बहिरप्या ॥ १९३ ॥

तीर्थकर प्रभुके ४६ गुणोंमें जन्मके दस अतिशयोंका वर्णन तीर्थकर अरहंत वे कहलाते हैं जिनमें ४६

गुण पाये जाते हैं। ४६ गुणोंमें चार तो मुख्य हैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द, और इस स्वाभाविक गुणविकासके अलावा शेष अन्य अतिशय हैं। उनमें जन्मके १० अतिशय हैं, तीर्थकर भगवानका जन्म होता है तो जन्मसे ही उनके ये आश्चर्यकारी बातें रहती हैं। उनके देहका अतिशय रूप होता है, जिस सुन्दरताकी शानीका अन्य कौन बताया जावे? तीर्थकरके शरीरमें जन्मसे ही यह अतिशय है कि सुगंध आती है। सबके शरीरमें गंध तो होती है पर भगवानके शरीरमें उत्तम गंध होती है। उनके शरीरमें पसेव आदि नहीं उत्पन्न होते। दुर्गन्धका साधन तो मुख्यतया पसेव है, उनका शरीर पसेवसे रहित है। उनके वचन प्रिय और हितकारी होते हैं। वे जीव भी बड़े भाग्यवान हैं जिन्होंने उन तीर्थकरदेवके बचपनमें गृहस्थावस्थामें भी वचन सुने हों। जिनके शरीरमें अतुल्य बल पाया जाता है, हजारों लाखों-करोड़ों सुभटोंमें जो बल है उससे भी अधिक बल तीर्थकरके देहमें होता है। जिनका रुधिर श्वेत वर्णका होता है। रुधिर सभीके श्वेत और लाल दोनों होते हैं, पर मिले हुए होते हैं। उसमें यह पता नहीं पड़ पाता कि यह सफेद खून है, लेकिन सफेद खून विषैला कीटाणुका नाशक होता है, रोगनाशक होता है। किसीमें श्वेत कम है, लाल रक्त अधिक है। प्रभुके देहमें श्वेत खून है, जिनके शरीरमें १००८ लक्षण पाये जाते हैं। हथेलीमें पैरोंमें कुछ ऐसे लक्षण होते हैं शकुन शास्त्रके अनुसार कि जिनसे उनका महाभाग्यपना विदित होता है। शंख, चक्र, धनुष, ध्वजा आदिक बहुतसे आकार हैं, और इनके अतिरिक्त तिल, मोर आदिक भी लक्षण होते हैं, जिनका संस्थान समचतुरश्र है। नाभिसे नीचे पैरों तक जितनी लम्बाई है, नाभिसे ऊपर सिर तक उतनी लम्बाई होती है समचतुरश्र संस्थानमें। हाथ पैरकी तुलनामें ठीक-ठीक प्रमाण रहना यह समचतुरश्र संस्थानमें होता है। जिनके बज्रवृषभनाराचसंहनन है, जिनकी हड्डियाँ बज्रकी तरह प्रबल हैं, जिनका शरीर ही बज्रकी तरह प्रबल है, इतनेपर भी सुकोमल शरीर रहता है।

तीर्थकरके कल्याणक—जन्मके समय ही जिनके १० अतिशय प्रकट हुए हैं वे तीर्थकर भगवान जब कुछ बड़ी उम्र पाकर विरक्त होते हैं, जिनके पञ्चकल्याणक मनाये जाते हैं, गर्भके समय भी कल्याणक होता, ६ माह पहिलेसे रत्नवर्षा उनके महलके आँगनमें हुआ करती है और कुबेर इन्द्रके द्वारा प्रबंध चलता है। गर्भके समय अनेक देवियाँ माताकी सेवा करती थीं और जैसे भी उनका दिल बहले, जैसे भी वे प्रसन्न रहें, वे सब उपाय देवियाँ करती थीं, वचन व्यवहार भी ऐसा कि काव्यअलंकारकी चर्चा सहित वार्ता करके देवियाँ तीर्थकरकी माताका मन प्रसन्न रखती थीं। जन्मके समय तो बड़े ठाठबाटसे इन्द्र पाण्डुशिलापर ले जाकर मेरूपर्वतपर उनका अभिषेक करते थे। फिर जब विरक्त होते हैं तब भी कल्याणक रचा गया; तप कल्याणकके समय लौकान्तिक देव आते हैं और भगवानके वैराग्यकी प्रशंसा करके चले जाते हैं। ये लौकान्तिक देव अन्य समयमें नहीं आते, सिर्फ वैराग्यके समयमें आते हैं। उन्हें वैराग्य प्रिय है। लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते हैं। एक मनुष्यभव पाकर मुक्त हो जाते हैं। उनके द्वाराकी गई वैराग्यकी प्रशंसासे यहाँ लोगोंके वैराग्यकी ओर और भावना दृढ़ होती है।

तीर्थकरके दीक्षाकल्याणकके समयका प्रभावक दृश्य—प्रभुके वैराग्य समय इन्द्र एक बड़ी सुसज्जित पालकी बनाता है, भगवानसे प्रार्थना करता है, अभी वे भगवान गृहस्थावस्थामें हैं, पालकीमें विराजनेके लिए प्रार्थना करता है। जब भगवान उस पालकीमें विराजमान होते हैं और इन्द्र उस पालकीको लेकर चलनेके लिए उद्यत होता है उस समय कवियोंने अलंकारमें बताया है कि मनुष्य लोग उस इन्द्रको पालकी उठानेके लिए रोक देते हैं, दोनोंमें विवाद होता है, उसका निर्णय अधिकार ४-५ विवेकी पुरुषोंको दिया जाता है, तो वे विवेकी पुरुष क्या निर्णय देते हैं कि देखिये इस पालकीको उठानेका अधिकारी वह है जो इन भगवानके समान ही विरक्त होकर इन जैसा

ही बन सके। सो मनुष्योंको उस पालकीके उठानेका निर्णय दिया गया। उस समय मानो इन्द्र अपना माथा ठोकता हुआ कहता है 'ए मनुष्यों, तुम हमारा सारा देवत्व ले लो, सारी इन्द्रत्वकी विभूति ले लो, पर अपना मनुष्यत्व मुझे दे दो। तो अब आप सोचिए इस मानवजीवनकी कितनी महत्ता है? हम आप सब आज मनुष्य पर्यायमें हैं, इस दुर्लभ मानवजीवनको व्यर्थ न खोयें, अपने उपयोगको कुछ बदलें और कल्याणकी ओर चलें तो हम आपको बड़ा जौहर प्राप्त होगा। अपने आपके आत्मामें उस सहज परमात्मतत्वके दर्शन होंगे जिसकी प्रसन्नतामें संसारके समस्त संकट समाप्त हो जाते हैं। तप कल्याणक मनाया गया।

तीर्थकर केवलज्ञानीके प्रति भक्ति विशेषता व अतिशय विशेषता—तीर्थकर प्रभु जबसे तपश्चरण ध्यान करते हैं तबसे मौन हो जाते हैं, और जब केवलज्ञान होता है तो दिव्यध्वनिके रूपमें उनकी वचनवर्गणायें खिरती हैं। भव्य जीवोंके भाग्यसे और उनके वचन योगके निमित्तसे दिव्यध्वनि खिरती है, गणधरदेव उसका पूर्ण अर्थ समझते हैं, द्वादशांगकी रचना करते हैं, उस परम्परासे आचार्यजन ग्रन्थ रचना करते हैं, उसी परम्परासे आज हम सबको महान ग्रन्थ प्राप्त है। जरा आचार्य संतोंकी उस निधिका तो ध्यान करें, कितनी अपूर्व निधि है? हम अपने आपके कल्याणके लिए उन्होंने कैसे-कैसे ग्रन्थ रच दिये हैं, उन्हें हम आप अपने उपयोगमें नहीं लेते, उनसे कुछ फायदा नहीं उठाते तो यह अपनी ही मूर्खता है। तीर्थकर भगवानके केवलज्ञानके समय और विहार आदिकके समय अनेक अतिशय प्रकट होते हैं, जिन्हें देव रचते हैं, उन्हें देवरचित अतिशय कहते हैं और जिनके इन्द्र ही पहरेदार बनकर उन अतिशयोंको प्रकट करनेमें कारण बनते हैं वे प्रातिहार्य कहलाते हैं। देवरचित १४ अतिशय हैं भगवानके अर्हमालती भाषाका होना, सब जीवोंमें मित्रताका व्यवहार होने लगना, दिशायें, निर्मल, आकाश निर्मल छहों ऋतुओंके समस्त फल फूल एक साथ फूलने फलने लगना, पृथ्वीका काँचके समान स्वच्छ हो जाना। जब विहार करते हैं प्रभु तो उनके चरणकमलके नीचे स्वर्णकमलकी रचना होती चली जाती है। आकाशसे जय जयकारकी ध्वनि होने लगती है। सुगंधित वायु चलती, मंद-मंद सुगंधकी वृद्धि होती, समस्त जीवोंको हर्ष उत्पन्न होता, भूमिका निष्कण्टक हो जाना ऐसे अनेक अतिशय प्रकट होते हैं।

केवलज्ञान होनेपर होने वाले अतिशय—जहाँ भगवान बिराजे हों वहाँसे चारों ओर १००-१०० योजन तक सुभिक्ष हो जाता है, कहीं अकाल नहीं रहता, लोग दुःखी नहीं रहते, कैसा पुण्योदय है कि जहाँ प्रभु विराजमान हैं। उनके चारों ओर १००-१०० योजन तक दुर्भिक्ष, अकाल, पीड़ा नहीं रहती। प्रभुका आकाशमें गमन होता है, वे पृथ्वीपर विहार करते हुए नजर न आयेंगे। जब वे समवशरणमें गंधकुटीमें विराजमान होते हैं तो चारों ओर सभायें रहती हैं। बारह सभायें गोल-गोल रहती हैं। उसमें रहने वाले सभी जीवोंको प्रभुका मुख दिखता है। चारों ओर मुख दिखे ऐसा अतिशय प्रकट होता है, यह सब पुण्यकी रचनाकी बात है। ये कोई सी भी बातें कल्पित नहीं हैं, अनेक बातें तो वैज्ञानिकोंने अभी सिद्ध करदी हैं, अनेक बातें तो बड़ी कलाओंसे अब भी जानी जायेंगी। प्रभुके ऊपर उपसर्ग नहीं होता। उनके किसी प्रकारका विकार अदयाका भाव नहीं होता। प्रभु अब कवलाहार भी नहीं करते। बिना आहार किए ही अरबों वर्षों तक वे अरहत अवस्थामें रहकर भव्य जीवोंको उपदेश देते रहते हैं। ध्यानकी अब उन्हें जरूरत नहीं है। मानका विचार अब उनके नहीं चलता। केवलज्ञानी हो गए, केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकको एक साथ स्पष्ट जान लेते हैं। प्रभुके चारघातिया कर्मोंका अब वहाँ स्थान नहीं है। पूर्ण नष्ट हो गए हैं वे घातिया कर्म, अब वे कभी पनप नहीं सकते। इसलिए सदा ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति प्रकट होती है, अभी अघातियाकर्म शेष हैं, इनमें सातावेदनीय भी उदयमें चल सकती है मगर उसका उदय निष्फल है। जैसे

सातावेदनीयका उदय निष्फल है, उसका आनन्द तो आत्मामें उत्पन्न हुआ स्वाधीन आनन्द है। साता असाताके उदयके विपाक अब उनके नहीं रहे, क्षुधा, तृषा आदिक उपद्रवोंका भी अब कोई काम नहीं है। समस्त विद्याओंका ऐश्वर्य वहीं केवलज्ञानमें प्राप्त हुआ है। अब उनके केश और नख नहीं बढ़ते। अरहंत होनेके पश्चात् भी जब तक आयुकर्म शेष रहता है, करोड़ों-अरबों वर्ष भी गुजर जायेंपर प्रभुके नख व केश नहीं बढ़ते। और न कभी कवलाहार उन्हें करना होता है। जिनके नेत्रसिंकार नहीं रहती। नेत्र ज्योंके त्यों स्थिर रहते हैं। अब उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती, स्फटिक मणिके समान उनका स्वच्छ देह हो जाता है। ऐसे केवलज्ञानके प्रकट होनेपर अतिशय प्रकट होते हैं। तो जहाँ ऐसा अतिशय प्रकट हो उन्हें तीर्थकर अरहंत कहते हैं।

सकलपरमात्मा व निकलपरमात्माका वर्णन—उक्त अतिशयोंमें से अनेक अतिशय सामान्य केवलीके भी प्रकट हैं, पर वहाँ यह नियम नहीं है कि समस्त अतिशय सामान्य केवलीके प्रकट हो जायें। जन्मके अतिशय तो जन्मसे सम्बन्धित हैं। तो तीर्थकर परमदेव ४६ गुण करके युक्त हैं और सामान्य केवलीके यथासंभव अतिशय प्रकट है, परमूल अतिशय जो अनन्त चतुष्टय है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, वे बराबर प्रकट हैं। परमात्मा दो प्रकारके बताये गए हैं सकलपरमात्मा, और निकलपरमात्मा। उससे ही सम्बन्ध यह सब प्रकरण चल रहा है कि शरीरसहित परमात्माका नाम सशरीर परमात्मा है सो तीर्थकर केवली व सामान्य केवली सब सकल परमात्मा हैं। निकलपरमात्मा उन्हें कहते हैं जो सर्व अघातिया कर्मोंसे निवृत्त हो गए हैं, केवल स्वात्मतत्व ही रहा। ये सकलपरमात्मा ही सब निकलपरमात्मा हो जाते हैं। अब वे अनन्तानन्त गुणोंसे विराजमान लोकके अग्रभागपर स्थिरतासे विराजे हुए हैं। भगवान कहाँ रहते हैं? इसके उत्तरमें कुछ लोग तो यह कहते हैं कि वे सर्वव्यापी हैं, सब जगह हैं और कुछ लोग कहते हैं कि वे ऊपर रहते हैं। प्रकृति भी लोगोंकी ऐसी पड़ गई है कि जब भगवानका नाम लेंगे तो ऊपरको थोड़ा मुख उठाकर नाम लेकर स्मरण करेंगे। यह पद्धति इस बातको सिद्ध करती है कि भगवानका, सिद्धका निवास लोकके अग्रभागपर है।

प्रभुकी सर्वव्यापकता—प्रभु सर्वव्यापक है, यह बात कई अपेक्षाओंसे सिद्ध होती है। ज्ञानकी अपेक्षासे प्रभु सर्वव्यापक है, लोकमें ही क्या, अलोकमें भी व्यापक है। जब केवली समुद्धात होता है उस समय भी एक समयके लिए भगवानप्रदेशोंसे समस्त लोकालोकमें व्यापक बन जाते हैं। अरहंतदेवके चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं, वेदनीय, आयु, नाम और गौत्र। तो जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त रह गया और बाकी कर्म लाखों वर्षोंकी स्थितिके हैं तो ऐसा तो होगा नहीं कि आयुकर्म नष्ट हो जाये और बाकी कर्म रहे आयें। चारों अघातिया कर्म एक साथ नष्ट हुआ करते हैं। तो उस समय समुद्धात होता है। अरहंत भगवान विराजे हैं तो उनके आत्माके प्रदेश दंडाकार नीचेसे ऊपर तक फैल जाते हैं, इसे कहते हैं दंडसमुद्धात। दंडसमुद्धातके समयमें औदारिक काययोग होता है, शरीर परमाणु आते रहते हैं, इस कारण वे आहारक कहलाते हैं और पर्याप्त होते हैं। इस एक समयके बाद प्रभुके प्रदेश अगल बगल फैलते हैं, जहाँ तक कि बातवलय नहीं आते। उसे बोलते हैं कपाटसमुद्धात। जैसे किवाड़का आकार होता है फैला हुआ, उस तरहसे यहाँ प्रदेश फैले हैं। इस तरह कपाट समुद्धात इनका नाम है। इस समय औदारिक मिश्रकाययोग हो गया अर्थात् औदारिक देह की वर्गणाओं और कार्माण वर्गणाओं का मिश्रण करके योग चलता है उस समय आहारक रह रहे हैं, शरीर वर्गणायें आ रही हैं, किन्तु अपर्याप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् दूसरे समयमें प्रतरसमुद्धात होता है। आगे पीछेके भी प्रदेश फैल जाते हैं। उस समय कार्माण कामयोग होता है, प्रभु अनाहारक होते हैं, अपर्याप्त होते हैं, अर्थात् शरीर परमाणु अब ग्रहणमें नहीं आ रहे, इसके पश्चात् लोकपूरण समुद्धात होता

है कि जो बातबलय थोड़ा रह गया था वहाँ भी प्रदेश फैल जाते हैं। इस एक समयमें लोकपूरण समुद्धातके समय लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर आत्माका एक-एक प्रदेश रह जाता है, इसके बाद फिर प्रदेश सिकुड़ते हैं, प्रतरसमुद्धातकी स्थितिमें आते हैं, फिर कपाटसमुद्धातकी स्थितिमें, फिर दंडसमुद्धातकी स्थितिमें, इसके बाद देहमें उनका प्रवेश हो जाता है। इस क्रियाके समय वे सभी कर्म आयुके प्रमाण करीब अन्तर्मुहूर्तके हो जाते हैं थोड़ा फर्क रहता है, सो वह फर्क भी इसके बाद तत्काल निकल जाता है। जब सब घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्तकी स्थितिमें हो गए तब पूर्णतया योगनिषेध हो चुकनेपर १४वें गुणस्थानमें ये अरहंत प्रभु पहुंचते हैं और उनके अन्तिम दो समयोंमें सभी प्रकृतियोंका नाश हो जाता है, और वे सिद्ध हो जाते हैं, तब वे निकलपरमात्मा कहलाते हैं।

निकलपरमात्माका परिचय—निकलपरमात्मा, अशरीर सिद्ध भगवान उर्द्धगतिसे लोकके अग्रभाग तक पहुंच जाते हैं। अब वे सदाकाल अवस्थित हैं। सिद्ध भगवानकी स्तुतिमें कहते हैं कि जो “एक माहि एक राजे, एक माहि अनेकनो” एक अनेकनकी नहीं संख्या, नमो सिद्ध निरञ्जनो”। ऐसा पढ़ तो जाते हैं पर अर्थ याद न होनेसे कुछसे कुछ भी पढ़ लेते हों, एककी जगह अनेक, अनेककी जगह एक। अब देखिये इसका अर्थ कितना मार्मिक है और प्रभुके अंतःस्वरूपको बताने वाला है। ये सिद्ध भगवान निरञ्जन हैं, इनके अब अञ्जन नहीं रहा। जैसे कि अञ्जन खूब लिपटकर ही लग सकता है, दूर-दूर रहकर नहीं लगता, ऐसे ही ये शरीर द्रव्यकर्म ये आत्मासे लिपटकर रह रहे हैं इसलिए इन्हें अञ्जन कहते हैं। जहाँ शरीर, कर्म, विकार आदि कुछ नहीं हैं ऐसे प्रभुको निरञ्जन कहते हैं। ये एक माहि एक राजे हैं अर्थात् प्रत्येक सिद्ध एकमें एक ही रह रहे हैं। जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सभी अपने आपके प्रदेशमें ही केवल रागादिक रूप परिणाम रहे हैं। एकमें दूसरेका प्रवेश नहीं है, वहाँ परिणामनकी बात देखिये, अनुभवकी बात देखिये। प्रत्येक सिद्ध अपने आपमें एकमें ही वह एक है, वे प्रत्येक सिद्ध एकमें एक ही विराज रहे हैं। यद्यपि जिस क्षेत्रसे कोई एक सिद्ध हुआ है उसी क्षेत्रसे उसी जगहसे अनन्त सिद्ध हो गए और वे जाकर वहाँ विराजमान हैं जहाँ कि कोई एक हो, लेकिन एक ही जगहमें अनन्त सिद्ध रहनेपर भी प्रत्येक सिद्ध अपने अपने आपके स्वरूपमें अपने ज्ञानानन्दको भोग रहे हैं, किसी में किसी दूसरे का परिणामन प्रवेश नहीं है, अतएव एकमें एक ही राज रहे हैं और एकमें अनेक राज रहे हैं सिद्ध प्रभु। जहाँ एक सिद्ध प्रभु हैं वहाँ अनन्त सिद्ध भगवान हैं। एक में अनेक विराज रहे हैं और, वहाँ एक अनेककी कोई संख्या नहीं है, संख्यासे परे हैं ना, अनन्त हैं ना, अनेकमें कितने आये? उसका कोई उत्तर नहीं है। अन्तरहित, यों भी एक अनेककी संख्या नहीं है, और यदि सिद्धमें, भगवान अन्तःस्वरूपका ध्यान किया जाये तो वह तो एक विशुद्ध चैतन्यमात्र है। और, यदि बड़ी तन्मयतासे सिद्ध प्रभुकी उपासना कर रहे हों तो उस उपयोगमें तो विशुद्ध चैतन्यभाव ही समाया हुआ है, उसकी सीमा नहीं, उसकी व्यक्ति नहीं, उसमें एक अनेककी गिनती नहीं। यों भी एक अनेककी संख्या अब नहीं रही।

कर्मक्षयसिद्ध व सहजसिद्ध प्रभुकी उपसनाका अनुरोध—ऐसे निरञ्जन सिद्ध भगवान जिनका हम गुण गा रहे हैं, ऐसी शक्ति, ऐसा स्वभाव हम आप सबके अन्दर है, पर अपनी कदर नहीं किए हुए हैं। इसीसे संसारमें रुलना भटकना बन रहा है। जब भी अपने आपके इस सहज परमात्मतत्व पर दृष्टि होगी, अपनी महत्ता विदित होगी, इन भोगोंसे, इन लगाओसे, इन व्यर्थकी करतूतोंसे उपेक्षा बनेगी, अपने आपमें उपयोग रमेगा, सब कर्मबन्धन झड़ जायेंगे और यही पद, यही विकास जो परमात्माको प्राप्त है, हम आप सबको प्राप्त होगा। प्रोग्राम तो इसीका ही सच्चा है, बाकी जो जिन्दगीमें अनेक प्रोग्राम बनाये बैठे हैं, अमुक कार्य करना, अमुक बात सिद्ध करना वे सब बेकार हैं। यही प्रोग्राम सार्थक है कि मैं केवल रह जाऊँ। मैं अपने आपको केवल निरखूँ, केवलमें ही अपना उपयोग जमाऊँ। केवल ही मुझे रहना है, क्योंकि मैं केवल हूँ। मैं केवल ही तो सत् हूँ। दो पदार्थ मिलकर मैं सत् नहीं बना, ऐसा जैसा मैं

सहज सत् हूँ, केवल हूँ, वही मात्र मुझे रहना है, ऐसा प्रोग्राम बनाये कोई तो उसका विवेकपूर्ण प्रोग्राम है और उसका मनुष्य जीवनका जीना भी सफल है, इसके लिए परमात्माकी भक्तिमें रहें और अपने आपमें बसे हुए सहज सिद्ध प्रभुकी याद कर रहे हों, इसमें ही कल्याण है।

बहिरात्माके स्वरूपके वर्णनमें बहिरात्माकी मिथ्यात्वसे अभिगृहीतता—तीन प्रकारके जीवोंमें से बहिरात्मा स्वरूप कहा जा रहा है। जो आत्मा मिथ्यात्वसे परिणत है और तीव्रकषायसे युक्त है, जो देह और जीवको एक माने उसे बहिरात्मा कहते हैं। यहाँ मुख्यतया मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवकी चर्चा चल रही है। मिथ्यादृष्टि कहो, बहिरात्मा कहो, एक ही बात है। मिथ्यादृष्टि, मिथ्याका अर्थ है संयोग वाली बात। मिथ्याका लोग अर्थ करते हैं 'उल्टा।' मिथ्या मायने उल्टा लगाते हैं पर मिथ्याका सही अर्थ "उल्टा" नहीं है, किन्तु मिथ्या मिथ् धातुसे बना है। सम्बंध इसका अर्थ है। परस्पर सम्बंधके अर्थमें मिथ् धातु बनी है जिससे मैथुन मिथ्या मिथुन आदिक शब्द बनते हैं। जिसका अर्थ है दूसरी चीजमें संश्लेष होना। परमैश्लेष दृष्टि होनेका नाम है मिथ्यादर्शन। जो आत्माका स्वरूप नहीं है ऐसे अन्य स्वरूपमें परभावमें श्रद्धा होनेका नाम "यह मैं हूँ" इसका नाम है मिथ्यादर्शन। मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वभावसे परिणत है। मिथ्यात्वभाव होता है मिथ्यात्व नाम दर्शन मोहनीय प्रकृतिके उदयसे। वहाँ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका भी उदय होता है। सम्यक्प्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्वका उदय क्रमशः क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्वमें, व सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें होता है पर मिथ्यात्वके उदयमें जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। मिथ्यात्व कहते हैं उस कर्मको जिस कर्मके उदयमें जीवका दर्शन बिगड़ जाता है, श्रद्धा विपरीत हो जाती है। जीवोंका अपना स्वामी मानना, अपना कुटुम्बी, समझना, देहको आपा मानना, जो अपनेमें भाव बनते हैं उन भावोंमें लगाव रखना; क्रोध, मान, माया, लोभके परिणाममें अपने आपकी श्रद्धा करना, मैं ही तो कर रहा हूँ, मैं दूसरेको पालता हूँ, सेवता हूँ, रक्षा करता हूँ आदिक कर्तृत्व बुद्धियाँ मिथ्यात्वमें हुआ करती हैं। मैं अमुक विषयको भोगता हूँ, यों भोगनेकी बुद्धि मिथ्यात्वमें होती है। वस्तुतः देखा जाए तो कोई पुरुष मिठाई खाकर मिठाईका रस नहीं भोग रहा, किन्तु मिठाईके रसका जो ज्ञान हो रहा है उससे सुख मान रहा है। मिठाईसे क्या सुख भोगेगा? मिठाई तो पौद्गलिक चीज है। उसका भोगना क्या होगा? तो अन्य वस्तुओंके भोगनेको, करनेका भाव मिथ्यात्व गुणस्थानमें होता है।

बहिरात्माकी तीव्रकषायसे आविष्टता—यह जीव तीव्रकषायसे गृहीत रहता है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभके उदयमें इस जीवको अपने आत्माकी सुध नहीं रहती है। अनन्तानुबंधी क्रोध जिसका संस्कार भव भवमें साथ जाये, जैसे पुराणोंमें चर्चा मिलती है कि कर्मठका जीव भव भवमें मरुभूमिके जीवको सताता रहा। अन्य कथायें भी ऐसी प्राप्त हैं जिनमें भव भवके संस्कार बताये गए। तो जिनका संस्कार ६ माहसे भी अधिक चले वे सब अनन्तानुबंधी कषाय कहलाते हैं। धर्मके सम्बंधमें क्रोध, मान, माया, लोभका प्रसंग आये तो समझिये कि वह अनन्तानुबंधी है। जैसे धर्म कर रहे, पूजा कर रहे, या अन्य कोई धार्मिक कार्य कर रहे और उसी प्रसंगमें तीव्र क्रोध जग जाये तो यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी क्रोधका रूप है। जिस धर्मका प्रसङ्ग शान्तिके लिए होता है उसका प्रसंग इसके क्रोधका कारण बनता है। कुछ थोड़ा धर्म किया, घमंडमें आ रहे, लोग जानेंगे कि आज उपवास किए हुए हैं, मैं ऐसी पूजा करता हूँ, यह सब क्या है? यहाँ दूसरोंको दृष्टिमें अपनेको धर्मात्मा जता देना यह अनन्तानुबंधी मान है। मायाचार धर्मके प्रकरणमें रखना। मनमें और, वचनमें और, करे कुछ और, दिलमें तो दया नहीं, रूप बनाया गया बड़े दयालुका, अथवा दिल में तो धर्मकी रुचि नहीं, पर अपने हावभाव गानतान द्वारा यह बतलानेकी चेष्टा करना कि हम धर्मात्मा हैं यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी माया है। जिस धर्मका प्रसंग हमारे सब संकटोंको दूर करनेके लिए था उसीको अपने दिलबहलावा कषायपूर्ति करनेका साधन बनाया, कभी अकेले

दर्शन कर रहे हैं तो झट जल्दी बोलकर कर रहे हैं, मगर कोई दो-चार आदमी आकर दर्शन करने लगे तो उनको देखकर खुद बड़े सुरीले गान गाने लगते हैं। सामायिक जैसे चाहे कर रहे, मगर कोई दो-चार आदमी आ गए तो अटेन्सनमें हो गए, यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी मायाका स्वरूप है। धर्मके प्रसंगमें लोभ करना, घर-गृहस्थी मोह-मोहब्बतके काममें सब कुछ खर्च करनेको तैयार रहते हैं पर किसी पड़ोसी भाई पर कोई खर्च करनेकी जरूरत पड़ जाये तो उसमें बड़ा हिसाब लगाते हैं, अथवा कोई धार्मिक काममें कुछ खर्च करना पड़े तो बहुत सोचा-विचारी करते हैं, यह क्या है? यह अनन्तानुबंधी लोभ है। तो ऐसी तीव्र कषायोंमें बहिरात्मा गृहीत हो जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव देह और आत्माको एक मानता है, इसका मुख्य लक्षण है शरीरसे निराला मैं कुछ ज्ञानदर्शनमय पदार्थ हूँ, यह अनुभव मिथ्यादृष्टिको न हो सकेगा।

त्रिविध बहिरात्मा—बहिरात्मा तीन गुणस्थानवर्ती जीव कहलाते हैं। मिथ्यात्व, सासादन सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व, लेकिन इनमें भी डटकर बहिरात्मा है पहिले गुण स्थानमें, मध्यबहिरात्मा है दूसरे गुणस्थानमें और जघन्य बहिरात्मा है तीसरे गुणस्थानमें। तीसरे गुणस्थानमें बहिरात्मत्व शिथिल हुआ क्योंकि यहाँ सम्यक् मिथ्यात्व मिले हुए परिणाम रहते हैं। न केवल सम्यक्त्व रहा, न केवल मिथ्यात्व। जैसे दृष्टान्त समझ लीजिए कि किसी पुरुषको वीतराग देव, वीतराग धर्म और वीतराग गुरुपर श्रद्धा हुई जो कि पहिले सराग देवताओंकी मूर्तियाँ भी अपने घरमें रखता था उसे कारण पाकर काललब्धिवश कुछ सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धा हुई है, जो रागद्वेष रहित हो, अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशमें हो वह हमारा देव है, ऐसी कुछ श्रद्धा तो जगी, मगर यह श्रद्धा इतनी दृढ़ नहीं हो सकी कि अपने घरमें स्थापित किए हुए सरागी देवताओंकी मूर्तियोंको अलग कर सके तो अभी उसका भव दोनों ओर लगा है। उसे न केवल सम्यक्त्व जैसी स्थिति कह सकेंगे और न केवल मिथ्यात्व जैसी स्थिति कहेंगे। तो यहाँ मिथ्यात्व प्रबल न रहा। कुछ सत्य श्रद्धानके लिए भाव होता है ऐसे परिणामको यद्यपि सम्यक्त्व न कहेंगे, बहिरात्मापन कहेंगे, लेकिन यह है जघन्य बहिरात्माका परिणाम। किसी जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया हो उपशम सम्यक्त्व, तो उपशम सम्यक्त्व तो छूट जाये और मिथ्यात्वका उदय न आ पाये, ऐसी बीचकी स्थिति कि जहाँ सम्यक्त्वकी विराधना हो रही है उस परिणामको कहते सासादन सम्यक्त्व। अब यह जीव नियमसे मिथ्यात्वमें आयेगा और परिणाम विपरीत ही हो गया तो उसे कहेंगे मध्यम बहिरात्मा और मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहने वाला जीव यह है उत्कृष्ट बहिरात्मा। देखो जो मोही है ममतावान है, अज्ञानी है उसे कहते हैं उत्कृष्ट बहिरात्मा। उत्कृष्ट नाम लगा है ऐसा जानकर आज्ञानीजन फूल न जायें कि मुझे उत्कृष्ट कह दिया। उत्कृष्ट तो कहा गया, मगर कैसा उत्कृष्ट? बहिरात्मा उत्कृष्ट। जैसे किसीको कहा जाये यह तो मूर्खोंका बादशाह है, तो बादशाह शब्द सुनकर खुश न होना चाहिए। क्योंकि वहाँ बादशाहका अर्थ महामूर्खसे है तो ऐसे ही बहिरात्मा कहा गया है मगर उसका अर्थ है कि वह महा बहिरात्मा है, मोही है। इसका प्रधान लक्षण यह जानें कि जो देह जीवको एक मान रहा है सो बहिरात्मा है याने जो बाह्य तत्वोंको अपने रूपसे अनुभव कर रहा है उसका नाम बहिरात्मा है।

भविष्यकी निर्भरता परिणामोंपर होनेसे परिणामोंकी सम्हालका अनुरोध—भैया! भला-बुरा भविष्य परिणामोंकी निर्मलतापर निर्भर है। दिखावासे कुछ काम न चलेगा। कर्मबन्ध तो होता है भीतरके परिणामोंका निमित्त पाकर। कोई ऊपरी धर्मक्रिया कर रहा हो इतनेसे वह कर्मबन्धसे बच जाये सो बात न होगी। हाँ भीतरका परिणाम अगर निर्मल है और वह कदाचित् बाह्य धर्मकार्यमें नहीं भी लग रहा है, लेकिन प्रतीति सच्ची होनेसे वह किसी भी जगह रहता हुआ अनेक कर्मोंके बन्धसे छूटा हुआ है। इसलिए हम आपको अपने परिणामोंकी संभाल करनेमें असावधानी न करना चाहिए। देखो केवल एक लक्ष्यकी बात है और वह ज्ञानकी बात है। जैसे ज्ञानमें आ

गया कि यह घड़ी है तो इसके समझनेमें आपको कुछ कठिनाई हुई है क्या? बस जान गए, इसमें कठिनाईकी क्या बात? अब यह तो जान गए वह जानना मिट भी जायेगा क्या? बस समझ लिया, हाँ यह है घड़ी। तो ऐसे ही यह आत्मा भी कोई वस्तु है, स्वयं ज्ञानमात्र यह मैं भी तो कोई चीज हूँ, यदि मैं कुछ न होऊँ तब तो बड़ी ही अच्छी बात है। ये दुःख सुख किसमें होते हैं? होते तो हैं ना? तो जब मैं कुछ हूँ और अपने आपका मुझे हो जाये ज्ञान तो इस ज्ञानमें कोई श्रम पड़ता है क्या? और हो जाये एक बार ज्ञान तो हो गया, फिर उसका भूलना कैसा? जान ही गए। तो किसी भी प्रकार यदि हम अपने सहजस्वरूपका ज्ञान कर लेते हैं तब संतोष करना चाहिए कि हमें जो कुछ करना था सो सब कुछ कर लिया, और एक निज ज्ञानस्वरूपका ज्ञान न कर सके तो चाहे धनपती बन जायें, प्रतिष्ठावान बन जायें, कैसी ही लौकिक ऊँची प्रतिष्ठायें पा लें लेकिन यह समझो कि मैंने कुछ भी नहीं किया। बहिरात्मापन छूट गया तब तो है अपना उद्धार, और यदि उसी मोह-ममतामें ही पगे हुए हैं तब तो फिर अपने उद्धारकी कोई सम्भावना नहीं है।

जे जिण वयणे कुसला भेयं जाणंति जीव देहाणं।

णिज्जिय-दुट्ठ-मया अंतरप्पा य ते तिविहा ॥ १९४ ॥

अन्तरात्माकी जिनवचनकुशलता—जो पुरुष जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें कुशल हैं, तीर्थकर गणधरदेव आदिकके जो वचन हैं, द्वादशांगमें अथवा वर्तमान उपलब्ध शास्त्र इनके ज्ञानमें जो दक्ष हैं, जो जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रतिपादन करने वाले हैं, जो देह और जीवके अन्तरको जानते हैं ऐसे पुरुष अन्तरात्मा कहलाते हैं, पर द्रव्यसे भिन्न अपने आत्मस्वरूपमें जिनकी रुचि है उनका नाम है अन्तरात्मा। सम्यग्दृष्टि जीव अनेक विवादोंसे परे रहते हैं। लोकमें बड़ा झंझट है और वह अज्ञानसे बनाया हुआ है। पद-पदपर अज्ञानीको झंझट आ सकता है। ज्ञानी पुरुष सब रहस्यको जानता है कि यहाँ का प्राप्त समागम पुण्य पापका खेल जैसा है। उदय अनुकूल है तो लौकिक समागम मिलते हैं। पापका उदय है तो उस दुःखके अनुकूल समागम मिलते हैं। यहाँ थोड़ेसे धनपर मायाचार न करना, लोभ न करना ये सब बातें उसके ज्ञानमें स्पष्ट रहा करती हैं। इस कारण कितनी ही बड़ी बड़ी राशियोंका मोह त्याग देते हैं। कहीं देखा होगा, किन्हीं दो भाइयोंमें न्यारापन होता है तो कोई भाई इतना उदार रहता है कि कितनी ही अधिक दूसरे भाईको मिल जाये फिर भी अपनेमें विषाद नहीं करता है, और प्रायः देखा जाता है कि न्यारा होनेके बाद जिसने अन्यायसे अधिक भी रख लिया है तो कुछ समय बाद उसके पास नहीं रहता है। और एक भाई पुण्योदयमें उससे कई गुना अधिक धन संचय कर लेता है। तो है क्या? ये बस उदयके अनुसार बातें चलती हैं। ज्ञानीका यह निर्णय रहता है कि मुझे कुछ भी वैभव मिले अथवा न मिले, इसपर कोई मेरा जीवन नहीं टिका है। तो मेरा जीवन तो जीवत्व भावसे है, मेरी चेतना शुद्ध रहेगी तो मेरा सच्चा जीवन है, जहाँ उपयोग अशुद्ध हो गया तो वह जीवन क्या जीव है, भावमरण है। मैं अपने भावोंसे अपने आपको मारता रहता हूँ। ज्ञानी पुरुषोंको बाह्यपदार्थोंसे आसक्ति नहीं हुआ करती। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें वैराग्य और उनका उपदेश भरा हुआ है, जिस आज्ञाको ज्ञानी माननेका संकल्प बनाए हुए है ऐसा अन्तरात्मा पुरुष ८ प्रकारके मदोंसे दूर रहता है।

अन्तरात्माके ज्ञानमद व पूजामदका अभाव—घमंडके विषय ८ हुआ करते हैं। किसीको ज्ञानका घमंड रहता है, मैं जानकार, मैं ज्ञानी हूँ, ये लोग कुछ नहीं समझते। मैं इतना श्रेष्ठ हूँ, यह हुआ ज्ञानका मद, किन्तु ज्ञानी समझता है कि इस ज्ञानका क्या मद किया जाये? क्या ज्ञान पाया है? केवलज्ञानके सामने यह ज्ञान उसके कुछ अंश भर ही कीमत नहीं रखता है। क्या जाना, सामनेकी बात जाना, थोड़ी बात जाना, कोई इस विद्यासे ईश्वर नहीं

बन जाया करता। सब विद्याओंका ईश्वर तो केवली भगवान प्रभु हैं। हमारा यह कुछ भी ज्ञान नहीं और जो ज्ञान पाया है यह तो एक आलम्बन है इसका सदुपयोग किया जाये, नम्र बनकर अपने आपकी ओर झुक जाये, अपने स्वरूपके दर्शन करके तृप्त रहा जाये तो यह केवलज्ञानका बीज बन जायेगा। और, मद में आकर परदृष्टि बनायी जायेगी तो यह संसारमें रुलनेका बीज बन जायेगा। तो इस ज्ञानका सदुपयोग करना चाहिए न कि घमंड। अज्ञानीको पूजाका मद होता है। पूजा मायने आदर सत्कार। लोग आदर सत्कारमें भूल जाते हैं। बड़े-बड़े पुरुष जो कि लाखोंका दान कर जाते हैं भरी सभामें वे उसमें बुद्धि कितनी रखते हैं उनकी बात वे ही जानें, पर प्रायः करके ऐसा होता है कि जो थोड़ेसे लोगोंने प्रशंसा की, कुछ विशेष सत्कार किया तो वह हर्षके मारे फूलकर लाखोंका द्रव्यदान कर जाता है। वह दान तो नहीं है किन्तु अपनी प्रतिष्ठा बनानेके लिए खर्च कर जाता है। यह क्या है? यह आदर-सत्कारका मद है। जिस मदमें आकर लोग अपने संचित धनका भी उत्सर्ग करते हैं। बड़े-बड़े सुभट लोग युद्धमें अपने प्राण गंवा देते हैं तो यह क्या उनका आदरका मद नहीं है?

मदमें अपनी बरबादी—घमंड तो एक ऐसी चीज है कि जिसके कारण अपनी कितनी ही बरबादीकी जा सकती है। एक पुराना कथानक है कि टीकमगढ़की एक सुनारिनने बड़ा हठ करके २०-२० तोलेके बखौर अपने पतिसे कहकर बनवाये। वहाँ सारा तन ढांककर धोती पहिननेका रिवाज है सो उन बखौरोंको किसीने देखा नहीं, वह बेचारी मन ही मन कुढ़ती रही कि देखो हमने बड़ी हठ करके तो बखौर बनवाये, पर कोई प्रशंसाके दो शब्द नहीं कहता, सो मारे गुस्साके उसने अपने ही घरमें आग लगा दी। जब घर जलने लगा तो कुछ अक्ल ठिकाने आयी। वह पड़ोसियोंको रोकर पुकारने लगी अरे भैया! बुझा आग, घर जला जा रहा, वह बाल्टी है, वह कुआँ है, इतनेमें उसके हाथके बखौर किसी स्त्रीको दिख गए। बोली अरी बहन ये बखौर कब बनवाये, ये तो बड़े सोने हैं तो वह गाली देकर कहती है अरी रांड यही बात पहिले ही बोल देती तो मैं घरमें आग क्यों लगाती? इस घमंडका क्रोधसे ज्यादह सम्बन्ध है। जिसके मद रहता है उसके क्रोध भी भरा रहता है। आदरका मान लोग करते इसीलिए तो बरबाद हो रहे हैं, और आदरके लोभमें आकर शृंगारोंका बढ़ना, सात्विक रहन-सहन न होना, अनेक फैशन बनाना ये सब बातें हो रही हैं। अब तो १० वर्षसे अधिक कोई फैशन नहीं टिकता। नये-नये सत्कारका मद, पूजाका मद ज्ञानी जीवके नहीं रहता। उसे तो अपने आपके भीतर यह बात पड़ी हुई है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जो स्वभावसे आनन्दमय है इसकी उपासनासे मैं चिगूँगा तो मेरी बरबादी है। वह यहाँ अपने आपमें अपनी इज्जत बढ़ानेके लिए उत्सुक रहता है।

अन्तरात्माके कुलमद व जातिमदका अभाव—किन्हींको कुलका मद रहता है। मेरा बड़ा श्रेष्ठ कुल है। अरे श्रेष्ठ कुल है तो इसके लिए है कि हम धर्मपालनमें आगे बढ़ें। अगर कुलका मद करके इस तरह अपनेको हीन कर देते कि आगे ऐसा कुल न मिले, नीच कुलमें, नीच योनियोंमें जन्म लेना पड़े, यह होता है कुलमदका प्रभाव। किन्हींको अपनी जातिका मद रहता है, अजी मैं ऐसे घरानेका हूँ, मेरी माँ बड़े घरानेकी है, कभी दरिद्रता आ जाये तो अपने कुलकी और जातिकी अपने पहिले हुए उन पुरुषोंकी तारीफ करके अपने आपको श्रेष्ठ मनाना चाहते हैं। यह सब क्या है? ये सब कुल और जातिके मद हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा कुल तो मेरा चैतन्य है, मेरी जाति तो मेरी चेतना है और यह बाहरी कर्मोदयवश पर्यायमें कुल और जातिका व्यवहार है। मैं हूँ एक चैतन्य स्वरूप। मेरा वंश है चैतन्य। मेरा कुल चलाने वाला मैं ही हूँ, लोग संतानसे यह आशा रखते हैं कि यह मेरा कुल चलायेगा, मेरा वंश चलायेगा, लेकिन यह विदित है कि मेरा वंश तो केवल चैतन्यभाव है, यही मेरा साथी

रहेगा। जो अन्वयरूपसे हो वही तो वंश है। उस चैतन्य वंशको पवित्र करने वाला मैं ही मात्र तो हूँ, दूसरा कोई मेरे वंशको पवित्र नहीं कर सकता। ज्ञानी जीवको कुल और जातिका मद नहीं रहता। ये अन्तरात्माके लक्षण बताये जा रहे हैं कि वह कितना नम्र होता, कितना भक्त होता है और कैसा उसके अंतरङ्गमें अभिप्राय रहता है। जो अंतःस्वरूपको जानता है, अन्तस्वरूपको मैं आत्मा हूँ, इस तरह मानता है उसे अन्तरात्मा कहते हैं।

अन्तरात्माके बल ऐश्वर्य तप व सुन्दरताके मदका अभाव—ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुषके बलका मद नहीं रहता। शरीरमें जो बल है उसे ही लोग बल कहा करते हैं। यह बल विकृत बल है। वास्तविक बल तो आत्माका बल है केवल ज्ञातादृष्टा रहना, लेकिन अन्तराय कर्मके उदय क्षयोपशममें शारीरिक बल प्रकट होता है तो अज्ञानी जीव उस बलमें बड़ा घमंड रखता है, मैं बलिष्ठ हूँ, अन्य ये लोग निर्बल हैं, लेकिन ज्ञानी जीवके उस बलका मद नहीं है। वह जानता है कि यह बल पर्यायकी चीज है, मायामय है, इस बलमें पूर्णता नहीं है। अपेक्षाकृत बलकी महिमा गाई जाती है। ज्ञानी पुरुषके ऐश्वर्य मद नहीं है, जैसे बल प्रतिष्ठा आदिक होते हैं तो वे इस मदमें भूल जाते हैं कि मेरा भी बड़ा प्रताप है, ये सब मेरे हुकुममें चलते हैं, यह मद अज्ञानीके होता है ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा ऐश्वर्य तो मेरा सहज स्वरूप विकास है। ऐश्वर्यको भी वह मिथ्या समझता है। ज्ञानी पुरुषके ऐश्वर्यका मद नहीं होता। तपका भी मद ज्ञानी पुरुष नहीं करता। आज्ञानीमें ही यह बुद्धि जगती है कि मैं तपस्वी हूँ, मैं तपश्चरण करता हूँ, पर ज्ञानी यह जानता है कि मैं तो ज्ञानभावको कर पाता हूँ। ये तपश्चरण आदिक बीचके साधन आ रहे हैं ये भी मैं अपने ही ज्ञानदर्शन भावसे करने वाला हूँ। उसे तपश्चरणका मद नहीं होता। ज्ञानी पुरुषको शरीरकी सुन्दरताका भी मद नहीं होता। शरीरकी सुन्दरता क्या? हाड़, मांस, रुधिर आदिक महा अपवित्र चीजोंका यह घर है, इससे अपवित्र चीज और क्या हो सकती है? यह सब शरीर ही अपवित्र है। उसमें सुन्दरता किस बात की? रागभाव जगता है तो इसका शरीर मालूम होता है। जब राग नहीं रहता है तो यह शरीर घृणित और असार जंचने लगता है, तो शरीरकी सुन्दरता क्या? सुन्दरता तो हमारे आपके आत्माके अन्दर है। जैसे कहते हैं सत्यं शिवं सुन्दरं। क्या चीज है, मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव, मेरा सहज सत्त्व वही मेरे लिए सुन्दर है, मैं अपने सहजभावमें आऊँ तो मेरी सुन्दरता है। इसमें ही मेरी भलाई है और अपने सहज स्वरूपकी दृष्टिसे चिगकर कहीं बाहर दृष्टि लगाया, वहीं विडम्बनायें हैं। ज्ञानी जीवको शरीरमें मद नहीं रहता। जिसने आठों प्रकारके मदोंपर विजय प्राप्त किया है वह अन्तरात्मा कहलाता है। अन्तरात्मा तीन प्रकारके होते हैं जिनका कथन अब आगे करेंगे।

पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।

णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ॥ १९५ ॥

उत्कृष्ट अन्तरात्माका स्वरूप—अन्तरात्मा ३ प्रकारके होते हैं उत्कृष्ट अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा। उत्कृष्ट अन्तरात्मा वे कहलाते हैं जो अपने अन्तःस्वभावके ध्यानके दृढ़ अभ्यासी हैं। जो ५ महाव्रतोंसे संयुक्त हैं, धर्मस्थान और शुक्लध्यानमें जो बने रहते हैं, जिन्होंने समस्त प्रमादोंको जीत लिया है ऐसे पुरुष उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं। ५ पाप होते हैं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, इन ५ पापोंसे विरक्त होना यह है पञ्च महाव्रत। ये पाँचों पाप स्वयं दुःखरूप हैं। जो पुरुष इन पापोंका परित्याग करते हैं वे अपने आपपर ही करुणा करते हैं निश्चयतः। और व्यवहारतः पाप-त्याग करनेपर दूसरे जीवोंकी भी मेरे सम्बंधसे भलाई होती है। पञ्च पापोंको त्यागी स्व और पर दोनोंका उपकारी है।

पापोंकी हेयता—एक कथानक आया है किसी कन्याका। बताते हैं कि कोई मुनिराज किसी वनमें उपदेश कर रहे थे तो उस कन्याने पाँचों प्रकारके पापोंके त्यागका व्रत मुनिराजसे ग्रहण कर लिया। जब वह कन्या घर

आयी और उसने अपने पिताको सब हाल बताया तो पिता बड़ा क्रुद्ध हुआ, बोला कि बिना मेरी आज्ञाके तूने व्रत क्यों लिया और उन मुनिराजने भी व्रत क्यों दिया? तो उस कन्याने समझाया कि देखिये पिताजी हमने यह भला ही तो काम किया है, तो पिता बोला नहीं बेटी तुम उस व्रतको छोड़ दो। तो वह कन्या बोली पिताजी व्रत तो हम छोड़ देंगी पर उन मुनिराजके पास चलो, वहीं छोड़ेंगी। वे दोनों मुनिराजके पास चले। रास्तेमें कई घटनायें घटीं। एक जगह देखा कि कोई व्यक्ति शूलीपर लटकाया जा रहा था तो कन्याने पूछा पिताजी, यह क्या हो रहा है? तो पिताने मालूम करके बताया कि किसी व्यक्तिके किसीकी हत्याकी है तो उसे फाँसी दी जा रही है। तो वह कन्या अपने पितासे कहती है पिताजी मैंने यदि दूसरे जीवोंकी हत्या न करनेका नियम ले लिया तो क्या बुरा किया?... अच्छा बेटी एक यह नियम रखले बाकी चार नियम तो छोड़ दे। कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि किसी व्यक्तिकी जिह्वा छेदी जा रही थी, कन्याने पूछा कि पिताजी, यह क्या हो रहा है? तो बताया कि बेटी किसीने झूठ बोला है, झूठी गवाही दी है इसलिए इसकी जिह्वा छेदी जा रही है, तो पिताजी यदि मैंने झूठ बोलनेके पापको त्याग दिया तो क्या बुरा किया? अच्छा बेटी इस नियमको भी रख ले, पर शेष तीन नियम तो छोड़ दे। कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि किसी पुरुषको सिपाही लोग हथकड़ियाँ लगाकर पकड़े हुए लिए जा रहे थे, उसे कोड़ोंसे पीट रहे थे। उस कन्याने पूछा पिता जी! यहाँ क्या हो रहा है? तो बताया कि बेटी किसी पुरुषने चोरीकी है इसलिए वह पीटा जा रहा है।...तो पिताजी, यदि मैंने चोरीके पापका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...ठीक है बेटी ये तीन नियम तू रख ले, पर दो नियम तो छोड़ दे। कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि किसी व्यक्तिके हाथ काटे जा रहे थे। जब उस कन्याने पूछा कि यह क्या हो रहा है तो बताया कि बेटी इस पुरुषने कुशील सेवन किया है इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं?...तो मैंने कुशीलके पापका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...ठीक है बेटी तू इस नियमको भी रख ले, पर शेष एक नियमको तो छोड़ दे। कुछ और आगे बढ़े तो देखा कि कोई व्यक्ति पीटा जा रहा था। वहाँ भी जब कन्याने पूछा तो बताया कि किसी पुरुषने लालच करके, दूसरेको धोखा देकर धन हड़प लिया है इसलिए वह पीटा जा रहा है?...तो यदि मैंने इस लालचका, परिग्रहका त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?...ठीक है बेटी तू ये सभी नियम रख ले, पर चल तो सही उस मुनिके पास, उसने बिना मेरी आज्ञाके तुझे क्यों व्रत दिया? जब वे मुनिराजके पास पहुंचे तो वह पुरुष मुनिराजसे बोलता है कि आपने हमारी बेटीको बिना मेरे आदेशके व्रत क्यों दिया? तो मुनिराज बोले यह बेटी मेरी है या तेरी?...वाह मेरी ही तो बेटी है, सभी लोग जानते हैं। आपकी कैसे? इस विवादके समय वहाँ बड़ी भीड़ हो गई। तो मुनिराजने उस कन्याके सिरपर हाथ करके कहा कि बेटी! जो तुझे पूर्वभवमें पढ़ाया था सो सुना, सो पिछले भवमें जो संस्कृत व्याकरण आदिका अध्ययन किया था वह बोलने लगी। सभी लोग सुनकर दंग रह गए। तो लोगोंने बताया कि इसके असली पिता तो ये मुनिराज हैं, तुम तो केवल एक इस शरीरके पिता हो। जो आत्माकी रक्षा करे, जो आत्माको शिक्षित बनाये, वह है परमार्थतः पिता।

उत्कृष्ट अन्तरात्माकी अप्रमत्तता—यहाँ पापोंके त्यागकी बात कह रहे थे। ये पाप परित्याग करने योग्य हैं और ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञानकी साधनाके लिए कि जिसमें बीचमें विकल्प न आयें, पाँचों पापोंका परित्याग कर देते हैं तो जिसने पाँचों पापोंका परित्याग किया और धर्मध्यान शुक्लध्यानमें ही निरन्तर चित्त लगाया, जहाँ अर्न्तध्यान, रौद्रध्यान आते ही नहीं हैं, अगर आयेंगे तो वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा न रहेगा, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। ऐसे आत्मा ७वें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक माने जाते हैं। ७ वें गुणस्थानका नाम है

अप्रमत्त विरत। इसके ऊपरके साधु सभी अप्रमत्त हैं। प्रमाद छोटे गुणस्थान तक रहता है, और जहाँ प्रमाद है वहाँ अर्न्तध्यानकी सम्भावना है। इन उत्कृष्ट आत्माओंने समस्त प्रमादोंपर विजय प्राप्त किया है। अतएव ये उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं। प्रमादके मूलमें १५ भेद हैं। ४ प्रकारकी विकथा, स्त्रियोंकी कथा करना, भोजनकी कथा करना, देशकी चर्चा करना, राजा राजवैभव आदिककी चर्चा करना ये चार प्रकारकी विकथामें कषायवशकी जाती है। कभी क्रोधसे, कभी मानसे, कभी मायासे और कभी लोभसे। और ऐसा पुरुष जो इन विकथाओंमें लग रहा वह पञ्च इन्द्रियोंके विषयोंका रागी है और निद्रा या मोहमें व्यस्त रहता है। अब इन १५ भेदोंका प्रत्येक विभागमें एक एक प्रकारका संयोग करनेसे याने इन्द्रियविषय, कषाय, विकथाके एक एक भेद व निद्रा मोहके परस्पर मिलानेसे ८० प्रमाद भङ्ग बन जाते हैं। तो जो ८० प्रकारके प्रमादोंमें रत नहीं हैं, इनसे निवृत्त हैं और चार प्रकारके धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यानमें जो निरत हैं वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं।

उत्कृष्ट अन्तरात्माके ध्यानोंका विवरण—भगवानकी आज्ञाको मुख्य करके तत्व-चिन्तनमें रहना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। रागादिक भावोंका कैसे विनाश हो, उसके विनाशका चिन्तन करना सो अपायविचय धर्मध्यान है। कर्मोंके विपाकका चिन्तन करना विपाक विचयधर्मध्यान है और तीन लोक, तीन कालकी मुद्राका चिन्तन करना, कितना बड़ा लोक है, कितना बड़ा काल है, विशाल लोक व अनादि अनन्त कालकी विशालतापर जब उपयोग जाता है तो इसका रागसे द्वेषसे चित्त हट जाता है। रागद्वेष करनेका क्या काम है ? इस अनादि अनन्तकालके सामने यह थोड़ा-सा १० या २० या ५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या ? इसमें ही राग बसा लेनेसे जीवको कौन-सा लाभ मिल जायेगा ? इतने बड़े लोकमें यह १०, २० या ५० मीलकी जगह कौनसी कीमत रखती है? यहाँ क्या मोह करना, उसके मोह हटता है, राग द्वेष दूर होता है, तो जो चार प्रकारके ध्यानोंमें रत रहते हैं और पृथक्त्व वितर्कविचार, एकत्ववितर्क अविचार इन दो शुक्लध्यानोंमें किसीमें रत रहते हैं, ये सब उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं। ७वें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तकके जीव उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। ५वें और छठवें गुणस्थानके जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं और चतुर्थगुणस्थानके जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। उत्कृष्ट अन्तरात्माका वर्णन करके अब मध्यम अन्तरात्माकी बात कहते हैं।

साक्य गुणेहिं जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंतिं।

जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम सीला महासत्ता ॥ १९६ ॥

मध्यम अन्तरात्माका स्वरूप—जो महात्मा श्रावकके गुणोंसे युक्त है अथवा प्रमत्त विरत है वह मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है। छहढालामें कहा गया है कि “मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी।” कुछ लोग आगारी पढ़ा करते हैं, उनकी दृष्टिमें यह बात समाई होगी कि मुनि कैसे मध्यम होंगे, वे तो उत्तम कहलाते हैं लेकिन मुनि जब तक प्रमादमें है तब तक वह मध्यम अन्तरात्मा है, उत्कृष्ट नहीं। तो श्रावक और प्रमत्तविरत ये दो मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं। ये प्रमादमें अवश्य हैं, किन्तु इनका प्रमाद अज्ञानी जनोंकी भौतिकी नहीं है। स्वाध्याय करना, शिक्षा देना, चर्चा करना ऐसा प्रमाद उनके रहता है। जिसे हम आप कहते हैं कि यह अच्छी बात है और प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय करे, दूसरेको सुनाये, दूसरेको नियम दिलावे, शिक्षा, दीक्षा दे, जिसे हम कहते हैं प्रमादरहित होकर ऐसा करे वह सब प्रमादका काम है। आत्माकी अप्रमत्त अवस्था तो यह है कि जैसे यह आत्मा विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वरूप ज्ञाताद्रष्टा है उस प्रकारका उपयोग रहे तो है उसकी अप्रमत्त दशा और किन्हीं व्यवहार धर्म कार्योंमें लग रहा हो तो वह प्रमाद है, और लौकिक जन जिसे प्रमाद कहते हैं वह तो सारा अज्ञान है। प्रमाद

तो वह कहलायेगा कि जहाँ थोड़ी असावधानी हो, वह तो पूरी ही असावधानीकी बात है। तो आत्महितकी दृष्टिसे यह बात कही जा रही है कि अपना जिसमें कल्याण है ऐसे भावमें प्रमाद हो तो उसे प्रमाद कहा गया है। तो मध्यम अन्तरात्मा देशब्रती श्रावक और प्रमत्तविरत मुनि है।

देशविरत श्रावकके ग्यारह स्थान—देशविरतके ११ स्थान हैं, जिन्हें ११ प्रतिमाके नामसे कहा गया है। प्रथम प्रतिमामें सम्यग्दर्शनका निरतिचार धारण और अभक्ष्य अन्यायका परित्याग होता है। यों कहिये मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यका त्याग होनेपर पहिली प्रतिमामें प्रवेश कहलाता है। दूसी प्रतिमामें ५ अरगुब्रत, ३ गुणब्रत, ४ शिक्षाब्रत हो जाते हैं। इन ब्रतोंको विकल्प बढ़ानेके लिए नहीं लिया जाता है, किन्तु उस त्यागकी स्थितिमें ज्ञानकी ओर उपयोग अधिक लगायेगा। यह प्रयत्न किया गया है अन्यथा कोई त्याग त्यागमें ही रहा करे यह चीज छोड़ो, इसे हटाओ, इसकी एवजमें यह चीज लावों ऐसी दृष्टि करे, हमको सोला रखना है, हमको ऐसा ही पवित्र बनना है, केवल बनने बननेकी ओर ही विकल्प चले तो निश्चयतः उसका अन्तःब्रत न रहा, वह बाहरी विकल्पोंमें ही रहा, जिसे कर्मनिर्जरामें हेतु कहा गया ऐसा परिणाम न रहा। तो यह ध्यानमें रखना चाहिए कि बाहरी जितने भी नियम हैं उन नियमोंका उद्देश्य यही है कि मैं बहुतसे विकल्पोंसे छूटकर अपनेको ऐसा पात्र बनाये रहूँ कि अधिकाधिक समय हर ज्ञानप्रभावकी उपासनामें बिता सकें, ध्येय उसका यह होता है और जिसका अपने ज्ञानकी उपासनाका ध्येय होता है उसके ये ५ पाप छूटते ही हैं। वह हिंसा क्या करेगा ? वह छूट जायेगा। कुशीलमें क्या रमेगा ? जिसकी धुन लग गई है अपने आत्माके श्रेयोलाभकी, उसका तो जीवन ही बदल जाता है। यह देशब्रती श्रावक दूसरी प्रतिमामें १२ ब्रतोंके धारी होता है। उन ब्रतोंकी उत्कृष्टताके लिए आगेकी प्रतिमायें चलती हैं। सामायिक प्रतिमामें सामायिक ब्रतका निरतिचार पालन होता है। प्रोषधप्रतिमामें प्रोषधका निरतिचार पालन होता है। सचित्त त्याग प्रतिमामें सचित्तके भक्षणका त्याग होनेसे दयाका उदय होता है और अहिंसाब्रतकी उत्कृष्टता होती है। रात्रिभोजन त्यागमें भी अहिंसाब्रतकी उत्कृष्टता है। ब्रह्मचर्य प्रतिमामें ब्रह्मचर्यकी पूर्णता, आरम्भ त्यागमें अहिंसाब्रतकी श्रेष्ठता है। उनका विकास और उत्कृष्ट बढ़ता जाता है। यों परिग्रहत्याग प्रतिमा जब आती है तब यह जीव इतना निर्मल बन जाता है कि घरके, सम्बंधके, कुटुम्बके कोई मरें, जन्में तो उसे सूतक नहीं लगता है। केवल थोड़े कपड़े और भोजनके कुछ पात्रोंके सिवाय और कुछ नहीं रख रहा है। परिग्रहत्याग प्रतिमा बाला १० वीं प्रतिमामें अपने आहार आदिककी अनुमोदना भी नहीं करता और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमामें उद्दिष्ट भोजन न करना। यदि उसे यह मालूम हो जाये कि यह भोजन सिर्फ मेरे लिए बनाया गया है तो उसे वह नहीं लेता।

उद्दिष्टताहारत्यागका तथ्य—उद्दिष्ट त्यागके विषयमें कुछ लोग भ्रान्त धारणायें बनाते हैं, सोचते हैं कि साधुका ख्याल करके ही तो लोग साधुका आहार बनाते हैं, तब दोष लगता होगा, लेकिन उद्दिष्ट दोषके सम्बंधमें मुख्य बात यह जानना चाहिए कि यदि घरमें केवल साधुके लायक भोजन अलग बना लिया जाये और सबके लिए अशुद्ध भोजन बनाया जाये जैसा कि रोज-रोज भोजन बनता रहता है अलग चूल्हेपर, तो वहाँ उद्दिष्ट दोष आता है। यदि एक दिन भी और ऐसा संकल्प करके भी कि मैं साधुको आहार दूंगा और सभी लोग शुद्ध भोजन करें, किसी दूसरे चूल्हेपर अलगसे भोजन न बने तो उस भोजनमें उद्दिष्टका दोष नहीं आता। इतना सोच लेनेपर भी कि मुझे आज साधुको भोजन कराना है, उद्दिष्ट दोष नहीं होता। अतिथि सम्बन्धका ब्रत जब दूसरी प्रतिमामें लिया गया है तो वहाँ सोचता ही है वह ब्रती कि मैं अतिथिको आहार देकर भोजन करूंगा तो क्या सोचने मात्रसे उद्दिष्ट दोष होता है ? जिसने अतिथि सम्बन्धका ब्रत लिया वह रोज ही सोचता है, रोज ही संकल्प करता है वह तो उसका ब्रत है। दोषकी

बात होती तो ब्रत क्यों कहलाता ? तो उद्दिष्ट दोषका मूल साधन यह है कि वह केवल साधुका भोजन अलगसे बनाये। और अपने लिए, परिजनोंके लिये अलग बने तब उसके लिए बना हुआ भोजन उद्दिष्ट है। जिस भोजनको सब करेंगे, लेकिन यह नियम न रखें कि यह चीज साधुको ही दी जायेगी, वहां दोष नहीं है। वहां तो यह विचार है कि आज यह भोजन तो सभीके लिए हैं। हाँ आज इतनी विशेषता कर दी कि सारा भोजन शुद्ध बनेगा। तो ऐसा करनेमें उस श्रावकको दोष न आयेगा। जो भोजन केवल साधुके लिए बनता है वह उद्दिष्ट दोषयुक्त भोजन है।

प्रमत्तविरत मध्यम अन्तरात्मा—जब वह ब्रती और आगे बढ़ता है तब फिर पंच महाब्रतका धारण होता है, तो मुनि हुआ और मुनि जब तक प्रमत्त रहता है, प्रमत्तविरत है और मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है, ये मध्यम अन्तरात्मा जिनेन्द्र भगवानके वचनोंका बड़ा प्रेमी होता है। सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ९ पदार्थ, ७ तत्व इन सबकी चर्चामें इस सबके मर्ममें निश्चयनय व्यवहारनय स्याद्वाद सर्वविधियोंसे इसके स्वरूपका विवेक करके इस तत्त्वज्ञानमें प्रसन्न रहा करते हैं ये मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये श्रमशील हैं, क्षमाशील हैं, क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायोंमें इनकी तीव्रता नहीं है इसलिए ये मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं। ये बड़े आन्तरिक बलकी धारी हैं। उपसर्ग और परिग्रह आ जायें तब भी अपने ब्रतका खण्डन नहीं करते। चूँकि ज्ञातादृष्टाकी विधिसे जरा वे अभी हटे हुए हैं, अतएव इतने ऊँचे तपश्चरण करनेपर भी ये मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

अविरय-सम्मादिद्वी ह्येति जहण्णा जिणिदं-पय-भत्ता।

अप्याणं णिदंता गुण-गहणो सुट्ठु अणुरत्ता ॥ ११७ ॥

जघन्य अन्तरात्माका स्वरूप—जघन्य अन्तरात्माका स्वरूप इस गाथामें बता रहे हैं। जो जीव ब्रतरहित हैं और सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें जघन्य अन्तरात्मा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि हुए बिना अन्तरात्मत्व नहीं प्रकट होता इसलिए जघन्य अन्तरात्माका सम्यग्दृष्टि होना सर्वप्रथम आवश्यक है। और चूँकि उसके कोई ब्रत नहीं है, यद्यपि अनेक आचरण उसके उचित ही हो रहे हैं, इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। ये चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव होते हैं, ये चाहे उपशम सम्यग्दृष्टि हों अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि हों या क्षायिक सम्यग्दृष्टि हों, सब प्रकारके सम्यग्दृष्टि ब्रतरहित अवस्थामें जघन्य अन्तरात्मा कहलाते हैं। अन्तरात्मत्व जिनके प्रकट हो जाता है वे बहिरात्मा सर्वज्ञ जिनेन्द्रके चरणकमलमें अनुरक्त हुआ करते हैं। जिसको अपने आपके कैवल्य प्रकट करनेकी उत्सुकता जगी है वे जो कैवल्य प्रकट कर चुके हैं। उनकी उपासनमें अनुरक्त हो जाते हैं। जिनको जिसकी चाह है वह बात जहाँ प्रकट होती है वहाँ उनका चित्त रमता है। तो जिनको अपने आपमें कैवल्य प्रकट करना है, अन्तरात्मा जीव अपने आपमें यह भावना रखते हैं कि वह कब क्षण हो जब देहसे, कर्मसे, विभावसे, विकल्पोंसे निराला केवल ज्ञानमात्र जैसा कि मैं सहज सत् हूँ वैसा ही व्यक्त रूप बन जाऊँ, केवल यह ही भावना है और इस उत्सुकताके बलपर वह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा बन गया है। तो ये अन्तरात्मा जिनेन्द्र चरण कमलमें अनुरक्त रहा करते हैं। इनको गुणोंके ग्रहण करनेमें बड़ी उत्सुकता लगी रहती है, गुण क्या है जिसको ग्रहण करना है ? वह है केवल एक सहज शुद्ध-ज्ञानानन्द मात्र जो आत्माका स्वभाव है उस स्वभावको दृष्टिमें लिए रहना। काम तो केवल एक यही करनेका है। मगर यह काम बने कैसे ? जब कि यह जीव नाना प्रकारके विषय कषायोंमें अनादिसे लग रहा है और उसके संस्कारमें पल रहा है तो ऐसी स्थित वाले जीवन इस विशुद्ध गुणके ग्रहणमें कैसे लगे ? उसके लिए जो उपाय प्रयत्न रचेंगे वे प्रयत्न होंगे अणुब्रत महाब्रत रूप। पंच पापोंका त्याग करना और भी अनेक तपश्चरण करना। तो ये अन्तरात्मा ब्रत तपश्चरण संयम इनके ग्रहणमें आसक्त रहते हैं।

गुणग्रहणके अकृत्रिम स्नेही अन्तरात्मा—अन्तरात्माका उत्कृष्ट स्नेह होता है गुणके ग्रहण करनेमें याने जैसे अनेक लोग कृत्रिमतासे व्रत ग्रहण करते हैं, वैसा कृत्रिमतासे उनका व्रतग्रहण नहीं है। अन्तरात्मा जो व्रत ग्रहण करेंगे वे कृत्रिमतासे नहीं, उनका व्रत ग्रहण उत्कृष्ट सहज और सुगम होता है। जैसे कुछ लोग ऐसा सोचकर कोई व्रत ग्रहण करते हैं कि मैं मुनिव्रत ग्रहण करूँगा, मैं इतने सब परिग्रहोंका त्याग करूँगा, यथाजात लिङ्ग धारण करूँगा। इस तरहका विधि विधानका संकल्प करके मुनि होते और कोई ज्ञानी पुरुष चूँकि उसे आत्माकी उपासनाकी धुन लगी हुई है इस कारण वे बाह्यसंगको बाधा जानकार उनसे दूर होते हैं। जैसे वस्त्रसे बाधा आना, उसे धोना होगा, सुखाना होगा, सिलाना होगा, उसकी चिंता रखनी होगी, अथवा जो जो भी बाह्य संग है उन सबको बाधक जान कर उन बाधाओंसे हट रहे हैं, बस यही उनके व्रतका रूप बन रहा है। ज्ञानी जीवके बाह्य विकल्पमय विधिविधानका संकल्प नहीं किन्तु किसी भी प्रकार बाधाओंसे हटकर एक चैतन्य स्वरूपमें दृष्टिको दृढ़ करनेका भाव है। और उसी प्रयत्नमें उसकी दिगम्बर मुद्रा बनती है। तो यह ज्ञानी जीव व्रत संयम तपश्चरणको ग्रहण करनेमें अकृत्रिम स्नेह वाला होता है और इसको गुणोंमें और गुणीमें (दोनोंमें) प्रमोद रहता है। जिनको अपने गुण-विकासमें प्रमोद है वे गुणविकास वाले दूसरे जीवोंमें भी प्रमोद रखते हैं, ऐसे ये जघन्य अन्तरात्मा चतुर्थगुणस्थानमें होते हैं और ये गुणस्थानोंमें बढ़-बढ़कर ऊँचे गुणविकासमें चढ़कर अन्तमें ये क्षीण कषाय गुणस्थानमें उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाने लगते हैं।

स-सरीरा अरहंता केवल-गाणेण मुणिय सयलत्था ।

गाण-सरीरा सिद्धा सब्बुत्तम सुक्ख-संपत्ता ॥ १९८ ॥

परमात्माका स्वरूप—अब परमात्माका स्वरूप निरखिये। ये प्रभु दो प्रकारके होते हैं अरहंत और सिद्ध। जो शरीरसहित परमात्मा हैं उनको अरहंत कहते हैं, जो शरीर-रहित परमात्मा हैं उनको सिद्ध कहते हैं चाहे सिद्ध हों, अथवा अरहंत हों, केवलज्ञानके द्वारा समस्त विश्वका स्पष्ट ज्ञान सबके रहता है। और सर्वोत्तम जो आत्मीय आनन्द है उस आनन्दसे सम्पन्न सभी रहते हैं। ज्ञान और आनन्दका विकास पूर्णतया अरहंतमें है और सिद्धमें है। अरहंत भी अघातिया कर्मकलोंके दूर करनेपर सिद्ध ही तो होने वाले हैं। तो यों परमात्माका अर्थ है ज्ञान और आनन्दका पूर्ण विकास ही तो परमात्मा है। यह जीव ज्ञानानन्दभावस्वरूप है। ज्ञान और आनन्दके भावमें अपने आपको निरखनेसे अपना दर्शन होता है और उसमें भी आनन्दको नहीं किन्तु ज्ञानस्वरूपको एक ही ज्ञानमें लिया जाये तो आनन्द स्वयं व्यक्त होता है और आत्माका वहाँ अनुभव जगता है, तो प्रभु ज्ञानानन्दके परिपूर्ण स्वामी हैं। सर्वज्ञदेव, परमात्मा, सकलपरमात्मा अभी शरीरसहित हैं लेकिन उनका शरीर परमौदारिक कहलाता है। धातु और उपधातु दोषोंसे रहित है। धातु कहलाते खून मांस, मज्जा आदिक और उपधातु कहलाते हैं मल मूत्रादिक। इन धातु उपधातुओंसे वे रहित हैं। ३४ अतिशय एवं ८ प्रातिहार्योंसे सहित हैं और अनन्तज्ञान, अन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति जिनके पूर्ण प्रकट हुई है ऐसे अरहंतदेव जिन्होंने मोहादिक सर्व दोषोंका घात कर दिया है वे विशुद्ध आनन्दमय हैं। हम आप प्रभुकी भक्ति क्यों करते? वे कोई हम आपके रिश्तेदार नहीं है, वे कोई हमारे लौकिक-कामोंमें साथ देने वाले नहीं है, वे तो अपने स्वरूपमें लीन है। हम आप भक्ति यों करते हैं कि यह स्वरूपलीनता ही तो पूर्ण वैभव है और उस ही स्थितिमें हमारी पूर्णता, हमारा उत्कृष्ट विकास है और सत्य आनन्द इसी पदमें है, यह बात हममें सम्भव हो सकती है। इस कारण हम प्रभुके अनुरक्त हुआ करते हैं और अपना तन, मन, धन वचन सब कुछ न्योछावर करके भी हम प्रभुभक्तिका अपना कार्यक्रम बनाया करते हैं। ये प्रभु १३वें

गुणस्थानवर्ती जीव कहलाते हैं, संयोग-केवली जिनके केवलज्ञान हो गया, जो शरीरसहित हैं, और योग भी जिनके अभी विद्यमान है, जिससे उनका विहार, दिव्यध्वनि ये सब क्रियायें चलती हैं, कुछ केवली ऐसे भी होते हैं कि जिनकी दिव्यध्वनि न भी हो वे चाहे सामान्यकेवली अरहंत हों, चाहे सिद्ध भगवान हों पर ज्ञान और आनन्दके विकासमें कहीं भी अन्तर नहीं रहता है, अन्य केवलज्ञानी जिन्होंने समस्त अर्थोंको जान लिया है वे सशरीर परमात्मा अरहंत कहलाते हैं, और जब शरीरसे भी वियोग हो गया, केवल धर्मादिक द्रव्योंकी तरह पूर्ण विशुद्धि प्रकट हो गई है और ज्ञानानन्दके परिपूर्ण विकासमें तो थे ही, वे ज्ञानशरीरी सिद्ध भगवान कहलाते हैं। उनके शरीरमें ज्ञान ही ज्ञान रह गया, बाह्य शरीर भी उनके साथ नहीं रहा। ऐसे सर्वोत्तम आनन्दसे सहित सिद्ध भगवान, वह आत्माकी विशुद्धिकी उत्कृष्ट अवस्था है।

अध्यात्मसाधनाका प्रयोजन—अध्यात्मसाधना या आत्मध्यान किसलिए किया जाता है, उसका फल है, कभी न कभी ऐसी कैवल्य अवस्था प्रकट हो जाये। इसके लिए ही हमारे समस्त धर्मपालन हुआ करते हैं। हम आपकी उत्कृष्ट अवस्था सिद्ध अवस्था है, जो आज प्रकट नहीं है, मगर योग्यता है कि हम सिद्ध हो सकेंगे। वे जीव बड़े भाग्यवान हैं जिनके चित्तमें यह बात आ जाती है कि मुझे तो सिद्ध होना है और मेरा कोई प्रोग्राम नहीं है। घरमें रहते हों अथवा गृह त्याग करके भी जो जीव अपने आपके इस संकल्पमें बने हुए हैं, जिनकी एक ही धुन है उनका अन्तः चारित्र उज्ज्वल रहता है। जितना भी जिनके चारित्र प्रकट हुआ वे उतने साफ हैं, वे अँधेरेमें नहीं हैं। उन्हें किसी गाँवसे देशसे कुछ प्रयोजन नहीं, शरीर तकसे भी कुछ प्रयोजन नहीं, उनका प्रयोजन तो सिर्फ उनके इष्टकी सिद्धि है। तो अपने आपके स्वरूपका विशुद्ध हो जाना, केवल रह जाना, इस कैवल्यकी प्राप्तिमें इस जीवका सदाके लिए संकट मिट जाता है। संकट है जन्म-मरण का। हम अपने जीवन में कितना राग-द्वेष स्नेह बढ़ाते हैं, लोगोंको निरखकर अपनेमें कुछ अभिमान भी किया करते हैं। मैं क्या हूँ? और नहीं तो इस पोजीशनका ख्याल तो सभी लोग करते हैं। मेरी पोजीशन कहीं खराब न हो जाये। चार आदमी यदि जान गए कि हमारा पोजीशन बिगड़ गया तो यह दुःखी होता है। अरे अगर दूसरेकी अपेक्षा न करें, केवल आपको निरखकर ही सारे काम किया करें तो अनेक संकट तो उसके उसी समय मिट जाते हैं। अकेलेकी पोजीशन क्या बिगड़ती है ? दूसरोंकी दृष्टि रखते हैं तो उसमें पोजीशनका बनना सुधरना समझा जाता है। अकेलेको देखा तो उसमें ये विकल्प न रहेंगे। तो यह मैं केवल अकेला जैसा मैं हूँ सो ही होऊँ। मोहमें आ करके दूसरोंसे सम्पर्क बनाकर मैं एक अपनी अँधेरी दुनियामें फिरता हुआ चक्र काटता रहा हूँ बस वह चक्कर मेरा मिट जाये और मैं केवल अपने आपमें ही रत रह सकूँ, ऐसी मुझमें योग्यता बने, ऐसी अनुभूति रहे तो इसमें ही परम कल्याण है, और किसी भी जगह कल्याण नहीं है।

कैवल्यसाधनामें तत्त्वज्ञानका सहयोग—कैवल्यकी साधनाके लिए चाहिए हमें तत्त्वज्ञान। पदार्थका ज्ञान शुरू होता है उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप समझनेसे। देखिये यदि एक यह ही ज्ञान बन जाये कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यका स्वभाव रखता है, है ना कोई पदार्थ, जो है वह स्वभावसे उत्पन्न होता रहता है विलीन होता रहता है और बना रहता है। सभी सत् पदार्थोंकी यही विशेषता है और इस स्वभावके कारण यह बात प्रकट ज्ञानमें आयेगी कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपसे बन रहे हैं, बिगड़ रहे हैं और बने हुए हैं। लो अब उस पदार्थकी किसी भी बातके लिए दूसरेकी अपेक्षा क्या रही ? यद्यपि विकार भाव परपदार्थका निमित्त पाकर होते हैं, हों, निमित्त मिल गया, इतनी बात बन गई, मगर परिणामनमें तो अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि परिणामन होना वस्तुका

स्वभाव है। और प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसे परिणमता रहता है, परिणमनमें जो विशिष्टता आयी वह नैमित्तिक है, औपाधिक है, परभाव है, लेकिन कोई भी पदार्थ अपने परिणमनमें अपेक्षा नहीं किया करता। दूसरे पदार्थके सन्निधानमें हो गया, निमित्त मिल गया, यह बन गई अपेक्षा, पर इस स्थितिमें भी परिणमन उसकी परिणतिसे चल रहा है, परिणतिके लिए कोई किसी अन्यकी प्रतीक्षा नहीं करता। यहाँ हम आप समझाया करते हैं कि यह परिणयन सापेक्ष है। मतलब उसका यह है कि ये विभव परिणमनपर उपाधिसन्निधान बिना नहीं हो सकते। यह नियम अकाट्य है, इसमें कोई दोबातें नहीं हैं, इतनेपर भी परिणमने वाले पदार्थ अपनी ओरसे स्वतः अपनी परिणतिसे परिणम रहे हैं। हाँ सन्निधान ऐसा है कि वह इस तरह परिणम गया। प्रतीक्षा करनेकी बात नहीं रही। जैसे कोई बालक चल रहा है, गिर रहा है, पड़ गया है, सब कुछ कर रहा है पर उन सब स्थितियोंमें वह बालक ही अपनेमें कर रहा है। उसमें जैसी जब जमीन मिली ऊँची-नीची जमीन मिली या कुछ भी कारण मिले उसके अनुसार वह गिर रहा, पड़ रहा, चल रहा, सब कुछ साधन बन रहे, तो निमित्त सन्निधान बीच-बीचमें आ रहे, मगर यहाँकी धारा तो देखो वह अपने आपका अपने रूपसे सब कुछ कर रहा है। तो जब वस्तुका उत्पादव्ययध्रौव्य समझमें आता है, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे उत्पन्न होता है, विलीन होता है और बना रहता है, तब एक पदार्थका दूसरा पदार्थ लगा क्या? देखिये वस्तुका स्वातंत्र्य इसलिए समझा जाता है कि मोह हटे। और क्या प्रयोजन है? देखिये है वस्तु स्वातंत्र्य तभी स्वातंत्र्य समझा जाता है।

क्लेश और आनन्दका आधार मोहिता और निर्मोहता—मोह ही हम आपकी परेशानीका एक आधार है। मोह नहीं है तो कोई परेशानी नहीं है। मोह है तभी तो हम आप कितनी परेशानीमें हैं? धनिकोंके बड़े ऊँचे काम चल रहे हैं, देखनेमें तो बड़े आराममें रहते हुए दिखते हैं लेकिन भीतरमें यदि मोह परिणाम है तो यहाँ सब बिगाड़ कर लिया। भीतरमें जो आत्माका विशुद्ध ज्ञान तत्व है वह तो बिगाड़ गया। अब वहाँ शान्तिकी कहाँसे आशा हो? और कोई पुरुष जंगलमें रहता है, कपड़े भी नहीं हैं, खानेकी भी कोई नियत व्यवस्था नहीं है, जहाँ कोई साथी मनुष्य भी नजर नहीं आता, वह ज्ञानी पुरुष है तो उसे हम पूज्य शब्दसे कहते हैं। ये साधु हैं, किन्तु स्थिति तो बन रही है बड़ी दरिद्रताकी, न कोई साथी है न कोई व्यवस्था है, जंगलमें पड़े हैं, कंटकोंपर पड़े हैं, कंकरीली जमीनपर पड़े हैं, पासमें कोई चीज नहीं है लेकिन चित्तमें किसी भी परपदार्थका स्नेह नहीं है, मोह नहीं है। वे केवल अपने आपमें सहज अन्तः प्रकाशमान प्रभुकी उपासनामें लगे रहते हैं। ऐसी धुन वाले वे पुरुष बड़े सुखी हैं, बड़ा आनन्द पा रहे हैं, बड़े तृप्त हैं, यह अन्तर मोह होने और न होनेका है। मोह न हो इसके लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक पदार्थको स्वतंत्र जान लें। और, इसी धुनमें यद्यपि विकार परिणाम निमित्त पाकर होते हैं, यह वहाँ अपेक्षा पड़ी हुई है लेकिन परिणमने वाला पदार्थ तो अकेला है, केवल है। उसका तो परिणमनेका काम है। ऐसा अनुकूल निमित्त है उस रूप परिणम गया, जैसी व्यवस्था है उस रूप परिणम गया। उसे तो परिणमनेका व्रत है। विशिष्टता जो विकारोंकी आती है। वह उपाधिके सन्निधानसे आती है। जब समझ लिया कि प्रत्येक पदार्थ स्वभावसे उत्पन्न होता है, विलीन होता है और शाश्वत रहा करता है, तब उसका किसी दूसरेसे क्या लेन देन, क्या सम्बंध? और, सम्बंध अगर मानते हैं तो यह सबसे बड़ा अंधेरा है, अज्ञान है।

मोहमें अवगत घटनाकी स्वप्नवत् असत्यता—स्वप्नमें जो कुछ दिखता है क्या स्वप्न देखने वाला यह समझ रहा है कि यह झूठा है? झूठ नहीं मालूम होता, और इसी कारण अगर सुखकी घटनाका स्वप्न आता है तो हर्षके मारे भीतर फूला रहता है और दुःखमयी घटनाका स्वप्न आता है तो वह अन्दर रोता रहता है, यह उसकी

स्थिति बराबर बनी हुई है। तो स्वप्नके समयमें जैसे कोई यह नहीं समझ सकता स्वप्न लेने वाला कि यह स्वप्न है, यह झूठ बात है, इसी प्रकार मोहकी नींदमें रहने वालेको यह प्रतीत नहीं होता कि यह तो झूठ है, व्यर्थ है। भले ही कभी झंझटोंसे ऊबकर ऐसा कोई कह डाले कि ये सब व्यर्थकी बातें हैं, किसका भाई, किसका लड़का, किसकी स्त्री, मगर यह द्वेषवश कहा जा रहा है। किसी अनुकूल बातको न पाकर गुस्सेमें कहा जा रहा है, वस्तुस्वरूपके ढंगसे नहीं कहा जा रहा है। वस्तुस्वरूपकी पद्धतिसे यदि समझमें आये कि मेरा कहीं कोई नहीं है, तो उसका कल्याण अवश्य होगा। लेकिन मोहकी नींदमें तो यह बात दिखती है कि यह सब सच है, मेरा ही तो लड़का है, मेरा ही तो भाई है, मेरा ही तो सब कुछ है। बस यही विपत्ति इस जीवपर है।

अन्तःकल्याणवृत्तिका साहस—इतना साहस बना ले यदि कोई कि आखिर फैसला तो होगा, मरणके बाद मेरा कुछ न रहेगा, मैं अकेला ही यहाँसे जाऊँगा। अकेले ही सब कुछ भोगना होगा, तो जो बात १०-२० वर्ष बाद बीतनेको हो उस जैसी बात यदि अभीसे सोचने लगे तो यह थोड़े समयके लिए तो किसी प्रकार रहा, मगर वह इतना फायदा होगा कि सदाके लिए जन्म संकट उसके मिट जायेंगे, ऐसा मार्ग पा लेगा। तो हम अपने अन्तः कुछ ऐसा चिन्तन बनायें कि मेरा कहीं कुछ नहीं है, देह भी मेरा नहीं है। मैं तो अकेला चैतन्यस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। यही मेरा प्रयत्न हो। मैं हूँ और मेरा व्यापार पुरुषार्थ इतना ही हो रहा कि मैं स्वभावसे उत्पन्न होता रहता हूँ, विलीन होता रहता हूँ और सदा बना रहता हूँ। इतना ही तो मेरा काम है, यही मेरा अस्तित्व है, यही मेरा घर है, जिन प्रदेशोंमें मैं रहता हूँ वही मेरा घर है, वही मेरी पूर्ण दुनिया है, ऐसे अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि पहुंचे तो मोह छूटेगा। मोह छूटेगा तो कल्याण होगा। मोह छूटेगा नहीं, तो जो अब तक संकट भोगते आये बस वही संकट रहा करेंगे। मनुष्यभव व्यर्थ ही पा लिया। न पाते मनुष्यभव तो चलो एक सुविधा तो थी कि दो हजार सागर प्रमाण त्रसके भवोंमें मनुष्य भव पानेकी गिनती तो न बढ़ती। मानो इस बीच २४ भव पाये जाते और आज मनुष्य न होते, जैसे कि अधर्मकी स्थितिमें रह रहे तो कमसे कम यह रहता कि इतने २४ भव तक हो सकनेका हमें अधिकार है और मनुष्यभव पाया और व्यर्थ गया तो एक अधिकार तो एक नरभवका छूट गया। लाभ क्या मिला? तो लाभ है ज्ञान बढ़ाया जाये, वैराग्यका विकास किया जाये। मोह न रहे और अपने आपका जैसा केवल ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूपमें हमारी दृष्टि रहे तो इसमें हमारा कल्याण है और बाहरी बातोंमें, चर्चामें, विवादमें, सम्पर्कमें, पोजीशनमें, किसी भी बातमें इस आत्माका कल्याण नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन चतुर्थ भाग

लोकानुप्रेक्षाके प्रकृत प्रकरणमें आत्मपदार्थकी चर्चा—लोकमें जितने पदार्थ हैं उनके वर्णनके प्रसंगमें आत्मपदार्थका वर्णन चल रहा है। आत्मा तीन प्रकारके होते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। और, चौथी बात तत्वकी समझनेकी यह है कि इन तीन प्रकारकी पर्यायोंमें रहने वाला जो एक सामान्य आत्मतत्व है अर्थात् जिस आत्मतत्वकी ये तीन प्रकारकी दशायें बनती हैं, वह आत्मतत्व स्वरूपतः शाश्वत एकस्वरूप है, इस प्रकारकी चार बातें माने बिना किसी भी बुद्धिमान दार्शनिकका काम नहीं चल पाता। जिसको कुछ दार्शनिकोंने जागृत दशा, सुषुप्ति दशा, अन्तःप्रज्ञ और ब्रह्म इन चार रूपोंमें कहा है। जागृतका अर्थ है जो जग रहा हो। व्यवहारमें लौकिक कामोंमें दुनियावी बातोंमें जो जग रहा हो, वह उनका जागृत है अर्थात् बहिरात्मा दशा। यद्यपि एकदम समझमें यह बात आती है कि जगने वालेकी दशा अच्छी दशा कहना चाहिए, पर उनके मंतव्यमें इस आत्माका जगना, लगना, उपयोग करना

ये सब निकृष्ट रूप हैं। जो जागृत दशा बहिरात्माकी दशा है, सुषुप्त दशा अन्तरात्माकी दशा है। जैसे कोई पुरुष सो गया तो अब वह व्यवहारके कामोंमें नहीं लग रहा, इसी तरह जो व्यावहारिक बातोंमें न लग रहा हो वह सुषुप्त अर्थात् ज्ञानी है। अन्तःप्रज्ञ वह है जिसका ज्ञानबल भीतरमें बढ़ रहा हो। परमात्मदशा और ब्रह्म, जिसे चतुर्थपाद शब्दसे भी कहा गया है वह एक ब्रह्मस्वरूप है। तो इसी तरह आत्माकी ये चार स्थितियाँ बतायी गई हैं जिनमें सामान्य स्थिति तो परिणति नहीं है किन्तु वस्तुका शाश्वत स्वरूप है। परिणतियाँ तीन हैं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। अपने स्वरूपसे बाहर वाली बातमें आत्माको तक रहा हो, देहको आत्मा मान रहा हो वह बहिरात्मा है, मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, मोही है। और जो अन्तःकी बातको अपने ही अन्तः स्वरूपसे सहज शाश्वत स्वरूपको स्वीकार करता हो उसे कहते हैं अन्तरात्मा और जो परम आत्मा हुआ हो उसे कहते हैं परमात्मा।

परमात्मत्वस्थिति—परमात्मा शब्द दो शब्दोंके मेलसे बना परम व आत्मा। परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। परमात्मा शब्द ही इस बातको बता देता है कि यह आत्मा निकृष्ट दशामें था, उस निकृष्ट दशासे निकलकर जो उत्कृष्ट दशामें आया हो उसे परमात्मा कहते हैं। परमात्मा अरहंत और सिद्ध दो प्रकारके हैं सशरीर और अशरीर। कोई भी सिद्ध जब अपने आत्मामें आत्मस्वरूपको निरखनेका दृढ़तम अभ्यास बनाता है, अनुसंधान करता है तो उसके इस दृढ़तम प्रयोगसे उपयोगकी एकता हो जाती है। अब ज्ञान ज्ञानमें समाया हुआ है ऐसी निर्विकल्प समाधि बनती है। यह समाधि जब उत्कृष्ट काल तक बन जाये तो वहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान होनेपर साधु तो वही है ना, अभी शरीर है, भले ही केवलज्ञान होनेसे अतिशय हो जाता है शरीरमें कि वह परमौदारिक शरीर हो गया अब उपधातुकी अपवित्रता नहीं रही। उनका शरीर स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ हो जाता है। लेकिन वहाँ भी शरीर ही तो है। तो जब तक शरीरसहित अवस्था रहती है तब तक सशरीर परमात्मा कहलाते हैं। अब यह शरीर कब तक टिकेगा? कर्मबन्ध हो नहीं रहा। और कर्म, निर्जरा बराबर चल ही रही है तब कर्मका निकटकालमें ही अन्त आवेगा ही। तो जिस क्षण शेष बचे हुए अघातिया कर्मोंका अन्त होगा उसके साथ ही शरीर समाप्त होगा। निष्कर्म दशा हो जानेसे अब नये शरीर न मिलेंगे। सो अब वे अशरीर रह जाते हैं। अशरीर परमात्मा सिद्धको कहते हैं।

सांसारिक स्थितियोंमें उत्कृष्टताका अन्वेषण व आकांक्षा करनेकी व्यामोहमात्रता—जीवोंके मनमें यह आकांक्षा रहती है कि मैं सबसे ऊँचा बूँ और जिस परिस्थितिमें जितना ऊँचा बन सकनेकी सम्भावना होती है उसको यह अपनी धुनमें लेता है कि मैं ऐसा होऊँ, मेरी इतनी बाधायेँ समाप्त हो जायेँ, ऐसी बात लोगोंके चित्तमें रहती है जितना जिसने अपनेको सम्भावनामें आया हुआ उत्कृष्ट समझा है वह उतना उत्कृष्ट बनना चाहता है, लेकिन सांसारिक स्थितियोंमें इन बाहरी लौकिक समागमोंमें कौनसी स्थिति कौनसा समागम ऐसा है जिसे हम उत्कृष्ट कह सकें? मान लो बहुत धनिक हो गए तो वह क्या उत्कृष्ट स्थिति है? उपयोगमें अशान्ति है। अनेक प्रकारकी बाधायेँ हैं, उतना ही काम बढ़ गया है, केवल ख्यालमात्रका इतना मौज है कि जब पटिलकमें पहुँचे तो लोग उसका सम्मान करते हैं। मगर यह सम्मान झूठा मायारूप है, इस जीवको पतनमें ले जाने वाला है। ऐसे मायामयी, असार-कल्पित मौजको माननेके लिए इस जीवनको कितना संकटोंमें डाल लेते हैं? तो विशेष धनिक बननेमें क्या सार? परिवार वाले बन गए, बहुत नाती पोते हो गए, परिजन बहुत बढ़ गए, उसमें भी क्या सार मिला? आकुलता, वेदना अधिक बढ़ गई। लोग तो यों सोचते हैं कि यह पुरुष बहुत वृद्ध हो गया है, इसने चार-पाँच पीढ़ी तकके लोगोंको देख लिया है, यह बहुत ही भाग्यशाली है। और उस बूढ़ेके मरनेपर लोग सोनेकी

सीढ़ी बनवाते हैं यह सोचकर कि इसको स्वर्गमें चढ़ानेपर यह सीढ़ी काम देगी,पर उन्हें यह पता नहीं कि सीढ़ी तो उतरनेके काम भी आती है। जिस बूढ़ेने अपने चार-पाँच पीढ़ीके लोगोमें इतनी ममता रखी उसका क्या होगा? वह तो नरक जानेका पात्र है। तो सम्भव है कि वह सोनेकी सीढ़ी उसे नरकमें जानमें काम दे। तो यहाँके इन सांसारिक समागमोंमें क्या सार रखा है।

संसर्गकी असारता—खूब ध्यानसे सोचो ये पड़ोसके लोग या ये जानकर लोग मुझे अच्छा कह दें, इनकी दृष्टिमें मैं भला जचूं ये सब विकल्प क्या हैं? यह सब व्यामोह हैं, व्यर्थकी बातें हैं। ये लोग क्या कोई ईश्वर हैं या भाग्यके विधाता हैं? अरे ये सब तो कर्मोंके प्रेरे जन्म-मरणका चक्कर लगाने वाले, स्वयं अपना बोझ न सम्हाल सकने वाले हैं। और फिर कितनी बड़ी यह दुनिया, ३४३ धनराजू प्रमाण इस लोकमें यह परिचित क्षेत्र स्वयंभूरमण समुद्रके एक बूँदकी तरह है। और, फिर कितनासा यह जीवनकाल है, उस अनन्तकालके सामने यह १००-५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? तो इतनेसे समयके लिए क्या सोचना? यह सारा समागम यह परिचय असार हैं यह सब परिचय समाप्त हो, जैसे कि मुझे किसीने समझा ही न हो, परिचय ही कुछ न हो, हम जानते ही न हों। और वस्तुतः हम जानते नहीं, दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे, वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे हम सदा अपने आपको जान रहे हैं। जो मुझमें ज्ञेयाकार आते हैं, जितने विकल्प बनते हैं हम उनको ही जानते हैं, किसी दूसरेको जानते नहीं हैं और, इस तरह मान लो उपचारसे भी दूसरोंका जानना सही, किन्तु परका जानना तो कहलाया। तो वहाँ भी हम लोग पर्यायरूपमें जान रहे। जो इसका वास्तविक रूप है शाश्वतस्वरूप सहजभाव, उसका पारखी है यहाँ कौन? और, यदि कोई पारखी हो तो वह इस दुनियाके परिचयसे अपरचित हो जायेगा। तो मेरा यहाँ कौन है? किसको क्या दिखाना है? मैं स्वयंकी दृष्टिमें यदि ठीक बन गया, अपना शुद्ध शाश्वत केवल जैसा मेरा सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र एक उसे अगर अपने उपयोगमें लिया तो उसका भला है, कल्याण है, उसका सन्मार्ग स्पष्ट है और इतनी बात यदि अपने लिए न कर पाया तब क्या है? सब नौकरी ही है दूसरोंकी। जिन जिन जीवोंके पुण्यका उदय है उनके पुण्यके उदयमें नौकरी करनी पड़ रही है, इसके आगे और कोई सारभूत बात कुछ नहीं है।

कैवल्यभावना, प्रभुभक्ति व प्रभुस्वरूप—जीवनमें सबसे बड़ा भारी करने योग्य काम यही है कि अपना ऐसा भाव बने कि सब झंझट है, मुझे तो केवल बनना है। जो मैं हूँ वही रह जाऊँ और मैं कुछ नहीं चाहता। यही प्रार्थना हो जिनेन्द्र भक्तिमें, यही भीतरमें भावना हो तत्त्वचिन्तनमें कि हे प्रभो, जैसे आप जो थे सो ही हो गए, केवल रह गए, यही बात मैं भी चाहता हूँ। मैं केवल रह जाऊँ, मेरा स्वरूप मेरेमें है वही मात्र रहे, उसके आगे मैं और कोई संबंध नहीं चाहता, ऐसी भावनासे जिसकी दृष्टि अन्तः जगी है उसे कहते हैं अन्तरात्मा और अन्तरात्मा होनेका बल है ऐसा कि इस उपायसे वह परमात्मा बनेगा। परमात्माकी स्थिति कैसी होती है? वह केवल है, शुद्ध है, उसका विकास अनर्गल है, निरवधि है, निरूपाधि है। ज्ञान है तो इतना महान है कि कोई ज्ञेय नहीं बचा ज्ञानमें आनेसे क्योंकि जो जिसका स्वभाव है उसका विरोधी अगर न रहे तो वह पूर्ण विकसित रहेगा। आनन्द है प्रभुमें तो ऐसा असीम है कि जिस आनन्दमें कोई सीमा नहीं है, अलौकिक आनन्द है, पूर्ण निराकुलता है, उपयोग अब जरा भी विचलित नहीं है पूर्ण विशुद्ध है। केवल जानन जाननका ही जहाँ काम हो रहा है। रागद्वेष इष्ट अनिष्टका जहाँ रंच भी प्रसंग नहीं है। आखिर एक हो गया, वहाँ किसीसे कुछ संबंध नहीं रहा, ऐसी उत्कृष्ट स्थिति है परमात्मा की।

प्रभुभक्तिमें कैवल्यचिन्तनका प्रकाश—धन्य हैं, वे पुरुष जिनमें भगवद्भक्ति और आत्माके कैवल्यचिन्तनकी बात जगती रहती है। ये दो ही तो काम करने हैं। उसमें मुख्य काम तो कैवल्यचिन्तन है। मैं अपने स्वरूपमें केवल

हूँ, अपनी सत्तासे जो हूँ सो ही हूँ, उसमें दूसरेका प्रवेश नहीं है। कोई भी सत् दो सत्तोसे मिलकर नहीं बनता। प्रत्येक सत् स्वतंत्र है अर्थात् अपनी सत्तासे ही निष्पन्न है, किसी दूसरेकी सत्ता लेकर सत् नहीं हुआ करता। यदि मैं सत् नहीं होऊँ तो बड़ी अच्छी बात। फिर संकट ही क्यों रहे? असत्पर अभावपर संकट तो नहीं छाये जा सकते हैं। अगर मैं नहीं हूँ यह बात सही निकल आये तो यह तो बड़ी खुशीकी बात होगी, पर है कहाँ ऐसा? और खुशी भी मनायेगा कौन? मैं नहीं हूँ, ऐसा जो ख्याल करते है, तो हैं वे, तभी तो ख्याल करते हैं। मैं हूँ और मेरा सत्व कभी नष्ट नहीं हो सकता, मुझे अनन्तकाल तक रहना ही पड़ेगा। प्रत्येक सत् अनन्तकाल तक रहता ही है। तो मैं रहूँ और ऐसी परिस्थितिमें रहूँ, कभी कीड़ा-मकौड़ा बन्नू, पशु-पक्षी बन्नू, स्थावर बन्नू, मनुष्य बन्नू, कुछ भी देही बनता ही चला जाऊँ, किसी न किसी पर्याय वाला ही रहा करूँ, यहाँ संसारकी बातोंमें, तो ऐसा रहनेसे फायदा क्या? बल्कि बरबादी ही है। अतः हे प्रभो! मेरी बस यह अन्तरंगमें आकांक्षा है कि वह काल आये, वह परिणति आये जहाँ मैं केवल रह जाऊँ। मुझे इस देहसे भी प्रयोजन नहीं। देह मिलना यह तो संकटोंसे भरा है। भूख-प्यास, सर्दी, गर्मी, चिन्ता, शोक, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, सम्मान, अपमान आदिकके संकट ये सब इस देहके बलपर होते रहते हैं। इस देहको भी मैं नहीं चाहता।

नरदेहस्थ आत्माको शाश्वत देहविविक्त होनेका उपाय बनानेके लिए वर्तमान अपूर्व अवसर—यद्यपि आजकी ऐसी स्थिति है कि कोई कहे कि यदि देहको नहीं चाहते तो मर जाओ, आत्मघात कर लो, छुटकारा हो जाएगा, मगर इस तरहसे छुटकारा नहीं होता। मान लो इसी समय आप आत्मघात करके मर गए तो क्या अगले भवमें फिर देह न मिलेगा? अरे आगे फिर नये देहमें बँधना पड़ेगा और आज तो मनुष्य है, विवेक मिला है, बुद्धि मिली है, कुछ सोच समझ सकते हैं, तत्वचिंतन कर सकते हैं, कहीं मरण करके कीड़ा-मकौड़ाके भवोंमें पहुंच गए तो क्या हाल होगा? तो यह मनुष्यभव कितना पवित्र भव है कि जहाँ हम इतना विवेक बना सकते कि सारे संकट मेट सकते हैं। अब लिए हुए हैं हम संस्कार वासना तो अब वह वासना जगती है, वह दृष्टि हमारी खत्म हो जाती है, फिर वे ही संकट सामने आ जाते हैं, किन्तु सत्यदृष्टिमें जो चमत्कार है वह सामने आ ही जाता है। सत्यदृष्टि यही है कि जैसा मैं वास्तवमें हूँ सही अपने आप अपनेही सत्वके कारण, वैसा सरल है, ज्ञानसाध्य हैं। ज्ञान ज्ञानमें ही रहे रसमें कोई बाधा न आये, बाधा आये तो सत्वर दूर कर दी जाये, इसके लिए कुछ संयमकी आवश्यकता है जिससे कि हमारा वह ज्ञान ज्ञान बना रहे, ऐसे कामके लिए हमें इन्द्रिय और आपके स्वरूपकी दृष्टि बनानी होगी। तो हमारी उस दृष्टिमें यह बल है कि हम संकटोंको तुरन्त ही दूर कर लें। कितनी सुगम कला है, जानना है ज्ञानके द्वारा सही ढंगसे, ईमानदारीसे केवल गप्पोंमें नहीं, किन्तु भीतरमें रुचिपूर्वक इस ज्ञानस्वरूपको समझना है। इतना सुगम ज्ञान और इतनी सुगम कला और सारे संकट समाप्त हो जायें। इतना महान् फल, उस कामके करनेके लिए उत्साह न जगे तो यह तो बहुत अज्ञान, मिथ्यात्व, महाआपत्ति समझ लीजिए, वास्तवमें जीवपर यही है संकट।

परपरिणतिको संकटरूप माननेकी मिथ्या मान्यता—मोही जीव मानता है कि कुछ धन कम हो गया संकट आ गया, अरे वह संकट है ही नहीं, झूठका ऊधम है। कोई मानता है कि मेरे परिजनका किसीका वियोग हो गया, या मेरा मित्र मेरेसे पृथक् हो गया, लोग समझते हैं। अरे यह सब झूठका ऊधम है, यह कोई संकट नहीं है। परपदार्थ हैं उनकी जो परिणति होती हो वह अपनेमें। कोई कुछ बोलता है, जो बोले सो बोले वह अपनेमें। कोई कुछ करता है करे वह अपनेमें। प्रत्येक पदार्थका परिणामन उसका उसके स्वयंमें हो रहा है। हो उससे मेरेमें

क्या है? मेरेमें संकट बाह्य पदार्थोंकी परिणति वाला नहीं है, किन्तु मेरेमें संकट अज्ञानका छाया हुआ है। जो वह अपने आपके स्वरूपको नहीं समझ रहे हैं, उसमें उपयोग नहीं दे रहे हैं, यह संकट हम पर छाया है, बाकी बातोंका संकट न मानें। अगर अन्य स्थितियोंको संयोग-वियोगकी हम संकट समझने लगे तो हमारा उपयोग यही फंसा रहेगा, हम अपना कल्याण न कर पायेंगे। इससे इन बातोंको संकट जरा भी न मानें। जिन्दगी है, घरमें रहते हैं इस वजहसे कुछ इसकी ओर चित्त देना पड़ता है तो दें मगर वहाँ यह हठ न बनायें कि इतने ही काम बनें, ऐसा ही काम बने तो हम निश्चित हो सकेंगे, अथवा हम धर्मके पात्र हो सकते हैं। अरे निश्चितता अभी ही आना चाहिये यहीं। कैसी ही स्थिति हो, अपने ज्ञानबलको संभालें, वस्तुके स्वरूपको निहारें, निश्चितता नहीं आना चाहिए। अगर यह निश्चितता नहीं आ सकती तो धर्मका पालन नहीं हो सकता। हम कैसी ही कठिन स्थितियोंमें हो जिन स्थितियोंको दुनियावी लोग बड़ी कठिन स्थितियाँ कहते हैं, पर कठिन स्थिति यहाँ कुछ नहीं है। जो बात बीते उसीमें यहाँ रहना पड़ता है। क्या अनेक दरिद्र लोगोंका गुजारा नहीं चलता? अनेक प्रकारके अपमानित लोग क्या अपना जीवन नहीं रखते? सारी स्थितियाँ हैं, ये कोई संकट नहीं, यह कोई चिंताकी बात नहीं। चिंताकी बात यह बना लिया कि इस पर्यायके परिचयको सत्य मान लिया। ये सब मायामयी पर्यायें हैं। इनका तो इस ढंगका परिचय न होना ही भला था। इस परिचयसे हमने नफा कुछ न पाया। तो इन बाहरी बातोंसे हम जरा भी संकट न मानें, अपने आपमें हमारा ज्ञान जागृत रहे, मैं अपने सत्य स्वरूपको समझता रहूँ, इसके लिए उत्साह जगना चाहिए।

वस्तुतः ज्ञानसाप्राप्त्यमें बाह्य संयोग-वियोगकी अबाधकता—इस ज्ञानवार्ताको उत्पन्न होने देनेमें बाहरी संयोग-वियोग बाधा नहीं करते। अन्यथा बतलाओ, घोर उपसर्गोंसे मुनियोंको केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ? शेरनी प्राणघात कर रही है, स्याल खा रहे हैं, ईंधनमें मुनिराजको बंद करके जला दिया गया, नदीमें बहा दिया गया, शस्त्रोंसे छेदे जा रहे, आदि अनेक प्रकारके उपसर्ग किए जा रहे लेकिन उनका परम कल्याण हुआ। तो यहाँका यह दुःख हमें धर्ममें लगनेसे रोकता है क्या? यह प्राणी खुद ही मोहमें समझता है कि ऐसा संकट है, हम धर्म क्या करें? अरे संकट तो धर्ममें और सहायक बन सकते हैं, बल्कि समागम या मौजके साधन हमारे धर्ममार्गमें सहायक नहीं बन सकते। तो इतना साहस जगाना चाहिए कि कुछ स्थितियाँ आयें, ये सब परपदार्थकी परिणतियाँ हैं, जो कुछ भी हो रहा है उससे मेरेको कोई नुकसान नहीं है। मैं उनके बारेमें जो अज्ञान भरा विचार बनाता हूँ, बस यही हमारी करतूत हमें दुःखी कर रही है। संकट है तो मुझपर यह है, यह संकट छूटे तो मेरा कल्याण है। बाहरी बातोंमें सुधार-बिगाड़ होनेसे मेरा कुछ कल्याण नहीं है। ऐसा जिसने अपने अन्तःस्वरूपका निर्णय किया है वह पुरुष इस ज्ञानबल परमात्मा होता है। परमात्माका स्वरूप क्या है यह इस बातको “परम आत्मा” ये शब्द ही बता रहे हैं, तो इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति पूछते हुए जिज्ञासु पूछ रहा है कि परमका अर्थ क्या और परका अर्थ क्या, माका अर्थ क्या और परमात्माका अर्थ क्या? इसके उत्तरमें कह रहे हैं।

णीसेस-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती।

कम्मज-भाव-खए वि य सा वि य पत्ती परा हेदि ॥ १९९ ॥

परमात्मा शब्दमें प्रयुक्त परा शब्दके प्रकाशसे परमात्मस्वरूपका प्रकाश—परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें अनेक लोग नाना विवाद खड़े करते हैं। कोई मानते हैं कि यह परमात्मा अनादिसे ही कर्मोंसे मुक्त है, कि यह सारे लोककी रचना किया करता है, कोई कहते हैं, कि यह एक परमात्मा सर्वजीवोंके घट घटमें बसा हुआ है। इस तरह नाना प्रकारकी कल्पनायें परमात्माके सम्बन्धमें होती हैं, लेकिन भली प्रकार शब्दपर ध्यान दिया जाये

तो परमात्मा इस पदमें जितने शब्द हैं उनका जो अर्थ है सो यह शब्द ही सही सही बतला देता है; अर्थात् इन शब्दोंके सहारेसे परमात्माका सही स्वरूप जान लिया जा सकता है। परमात्मा पदमें ३ शब्द हैं पर मा आत्मा, पर मायने उत्कृष्ट, मा मायने लक्ष्मी और आत्मा मायने निरन्तर जाननहार पदार्थ। तो इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ प्रकट हुई है ऐसे जाननहार पदार्थको परमात्मा कहते हैं। तो इन शब्दोंमें प्रथम पर शब्दकी उपपत्तिकी जाती है। समस्त कर्मोंका नाश होनेपर स्वभावसे जो समुपपत्ति होती है उसका नाम है परा। परमात्मा शब्दमें ३ शब्द बताये गए हैं पर मा आत्मा, इनमें पर तो विशेषण है, मा विशेष्य है अतएव अलग-अलग शब्द बनाते समय परा शब्द बोला जायेगा क्योंकि मा शब्द स्त्रीलिङ्ग है तो उसका विशेषण रूप पर शब्द स्त्रीलिङ्ग होगा। जिसका समास बनता है परा मा विद्यते यस्य सा परमः, अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी जहाँ विद्यमान हो उसे परम कहते हैं। लोग परम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट करने लगे हैं, यह तो परम पदार्थ है, उत्कृष्ट है, अनोखा है आदि, किन्तु परम शब्दका अर्थ बन कैसे गया? उसकी उपपत्ति इस प्रकार है कि जहाँ अधिक शोभा हो, अतिशय हो, लक्ष्मी हो उसे परम कहा करते हैं। वह परा लक्ष्मी क्या है? जो समस्त कर्मोंका नाश होनेपर अपने आपके स्वभावसे उपपत्ति हो उसको परा कहा करते हैं। यही बात प्रत्येक पदार्थमें घटित कर लीजिए। प्रत्येक पदार्थमें अन्य बाधा संयोगका विनाश होनेपर जो अपने आपके स्वभावमें बनती है बात वह है परा। यहाँ आत्माकी बात चल रही है। आत्मामें जो उत्कृष्ट बात आत्मामें स्वभावसे जगे, जो कि समस्त व्यापक कारणोंके दूर होनेपर जग सकती है उस परिणतिको परा कहते हैं, अथवा कर्मजन्य भावोंके क्षय होनेपर जो उपपत्ति होती है उसका नाम है परा। कर्मजन्य भाव हैं रागद्वेष, मोह, विचार, विकार, इन सब भावोंका विनाश होनेपर आत्मामें जो बात स्वयं सहज बनती है उसका नाम है परा। ऐसी परा अर्थात् उत्कृष्ट अनुपम लक्ष्मी जहाँ हो उसे परम कहते हैं। ऐसा जो परम आत्मा है उसे परमात्मा कहते हैं।

परमात्मस्वरूपचिन्तनमें आत्मनिधिका प्रकाश—उक्त वर्णनसे जब हम अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि देते हैं तो यहाँ कितना ही वैभव नजर आता है? मेरेमें इस स्वभावसे ऐसी अपूर्व विधि है, ऐसा अपूर्व चमत्कार बसा हुआ है कि जिसमें रंचमात्र भी आकुलता नहीं हो सकती। यदि हम इन सब बाहरी मायामयी विनश्वर असार अत्यन्त भिन्न पदार्थोंका संसर्ग त्यागकर अपने उपयोगसे इन समस्त बातोंको भूलकर एक गुप्त रीतिसे ही अपने स्वरूपका स्पर्श करने चलेंगे, उपयोगमें ज्ञानमात्र हो, केवल ज्ञानस्वरूप, केवल ज्योतिस्वरूप ऐसा अपने आपको मान मानकर अपने ज्ञानमें जब केवल ज्ञानमात्रस्वरूप ही बस गया हो उस समय जो अनुभूति होती है वह अनुभूति बहुतसे कर्मकलंकोंका विनाश करती हुई उनका उपसंहार करती हुई प्रकट होती है। इसी कारण यदि इस अनुभूतिको काली महाकाली दुर्गा आदिक शब्दोंसे कहा जाये तो यह कोई अर्थविरुद्ध बात न होगी, कालीका अर्थ है जो आत्माको हितकी प्रेरणा दे। कलयति प्रेरणति आत्मानं हिते इति काली, यह अनुभूति आत्महितमें प्रेरणा देती है, प्रयोगरूपसे लगा देती है, यही अनुभूति महाकाली है, कलयति भक्षयति शत्रुन् इति काली। जो रागादिक दोषोंको अथवा द्रव्यकर्मोंको नष्ट कर दे उसे कहते हैं महाकाली। वह यह अनुभूति ही तो है जिसकी लोग शक्ति देवताके रूपमें आराधना किया करते हैं। वह शक्ति बाहरमें है कहाँ? कहाँ उपयोगको बाहरमें घुमाया जा रहा है और कहाँ अनेक भुजाओं वाले देवताकी कल्पना करके चित्तको लगाया जा रहा है? वह महाशक्ति अपने आपमें स्वयंमें है, इस ज्ञानानुभूतिके प्रकट होते ही कितने ही कर्मकलंक नष्ट हो जाते हैं। इसको यदि अनुयोग पद्धतिसे विचारा जाये तो यह कहा जाता है कि अनन्त संसार नष्ट हो गया। जो अनन्त जन्म मरणकी परम्पराको नष्ट करे। ऐसी देवमयी

शक्ति वह स्वानुभूति ही तो है। यही शक्ति बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है। जगतमें की जाने वाली ये सब बातें बड़ी सुगम लग रही हैं। परिजनोंका समागम होना, नाना देहोंका मिलना, आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिक संज्ञाओंका होना, पञ्चेन्द्रियके विषयोंका साधन मिलना आदि ये सब कितने सुलभ हो रहे हैं, किन्तु कठिनाईसे प्राप्तकी जा सकने वाली परिणति यह अनुभूति है स्वानुभूति ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति, इसीको ही दुर्गा कह सकते हैं। दुर्गाका अर्थ है दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा, जो बड़ी कठिनाईसे पाया जा सके उसका नाम दुर्गा है। कठिनतासे पायी जा सकने वाली चीज है यह अनुभूति।

काम भोग सम्पर्ककी असारता व मोहमें सुलभत्वमान्यता ऋषि संतोंने बताया है कि काम भोग सम्बन्धी कथायें इस जीवने अनेक बार सुनी हैं, उनका परिचय अनेक बार हुआ है उनकी अनुभूति भी अर्थात् आत्मस्वरूप रूपमें उनका अवगम भी अनेक बार किया है, सो सारा जगत इसी चक्रमें पड़ा हुआ है। और, कोल्हूके बैलकी तरह यह समझ रहा है कि मैं सारा काम सीधा ही और नया-नया करता जा रहा हूँ। जैसे कोल्हूका बैल घूमता तो है उसी चक्रमें, यदि उस बैलको यह पता हो जाये कि मैं इसी गोल दायरेमें घूम रहा हूँ तो वह इसी ख्यालके बलसे चक्कर खाकर गिर पड़ेगा। मालिक उसकी आँखोंमें पट्टी बांध देता है और उस कोल्हूके बैलको चक्रसे घुमाया करता है। उस बैलको यह पता रहता है कि मैं सीधा चल रहा हूँ और नई नई जगह जा रहा हूँ, इसी तरह इस जीवके ज्ञान नेत्रपर मोहकी पट्टी बंधी हुई है जिससे यह अंधा है। सो कर तो रहा है उन ६ विषयोंका वही वही काम, जैसे स्पर्शन इन्द्रियसे स्पर्शका विषय करना, रसना इन्द्रियसे रसका विषय करना, घ्राण इन्द्रियसे सुगंध दुर्गन्धका विषय करना, चक्षु इन्द्रियसे अनेक प्रकारके रूपोंका अवलोकन करना, कर्णइन्द्रिये रागरागनीके मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्द सुनना और मनके द्वारा यश अपयश, कीर्ति अकीर्ति, भोगोपभोग आदिके अनेक प्रकारके विचार बनाना आदि, सो ये सब काम यह कर तो रहा है अनादि कालसे, पर यह समझ रहा है कि मैं ये काम रोज-रोज नये-नये कर रहा हूँ। ऋषि ज्ञानी संतोंने तो इन भोगोंको उत्च्छृष्ट कहा है क्योंकि ये भोग बहुत-बहुत भोगे जा चुके हैं। जैसे कोई भोजन करे और उसे मुखसे उगल कर फिर करना चाहे तो वह भोजन उत्च्छृष्ट भोजन करना कहलाता है। इसी तरहसे ये इन समस्त भोगोंको ऋषिजनोंने उत्च्छृष्ट बताया है ये भोग भोगे जाने लायक नहीं है। लेकिन जब ज्ञाननेत्रपर व्यामोहकी पट्टी बंधी हुई है तो यह जीव समझता है कि मैं आज कोई नया ही भोग भोग रहा हूँ, कोई अपूर्व काम ही कर रहा हूँ। यों ये भोग अनादिकालसे इस जीवके लिए सुलभ हो रहे हैं। कर्मके योगसे ये सब साधन मिल जाया करते हैं, और मिल क्या जाया करते हैं, इन विषयोंसे भरा हुआ ही तो यह संसार है। पुद्गल ही तो पड़े हुए हैं, पुद्गलका ही रूप है। यह जीव जहाँ पहुँचता है वहीं इसके भागके साधन मौजूद हैं, पुद्गल ही रूप है। यह जीव जहाँ पहुँचता है वहीं इसके भोगके साधन मौजूद हैं, अब इसमें पड़ा हुआ है अज्ञान तो उन भोग साधनोंका यह भोगनेको यह भोगनेके रूपमें ग्रहण कर लेता है। यों जीवको ये सब काम भोग वाली कथायें सुलभ हो रही हैं, लेकिन अपने एकत्व विभक्त स्वरूपके दर्शनकी बात कठिन लग रही है और कठिन होनेका कारण यह है कि यह जीव कषाय भावोंके कारण एकमेक बन रहा है, इसी कारण अपना स्वरूप तिरोहित हो गया। उसके दर्शन नहीं होते।

स्वभावपरभावविवेकसे सकल संकटोंका विध्वंस यदि यह जीव एक इतना ही काम करे, ऐसा निरखे कि मेरेमें जो इस समय भाव बन रहे हैं, कषायें जग रही हैं, रागद्वेषकी तरंगें उठ रही हैं ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, विकार हैं, परभाव हैं, औपाधिक हैं, मेरे स्वभावकी बात नहीं है, इतना ही विवेक यदि जग जाये तो इस विवेक

कृत्यका इतना महान फल होगा कि इस जीवके समस्त संकट समाप्त हो सकते हैं। धर्मपालनके लिए क्या काम करना है? उसका एक छोटे रूपमें दिग्दर्शन कराया है कि विवेक करना है। विवेकके मायने हैं भेद विज्ञान। भेद कर देना यह मैं ज्ञानमात्र हूं और ये रागद्वेष विचार विकार आदिक भाव ये विभाव हैं, परभाव हैं, औपाधिक है, मेरेसे विपरीत हैं, अपवित्र हैं, विनश्वर हैं, इनसे मेरा पूरा न पड़ेगा, इनसे मेरा कल्याण नहीं है, बरबादी है। इतनी विवेक भरकी बात निरखना हैं, इसके फलमें फिर जो उत्साह जगेगा, प्रेरणामूलक संयम होगा वे सब अच्छेसे अच्छे कार्य इसके होने लगेंगे। पर चाहिए इसको मूलमें विवेक। बतलाओ इसमें क्या कठिनाई है? जिस जगह बैठे हैं, जिस स्थितिमें पड़े हैं, जहाँ कहीं भी हैं, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, इसको तो कुछ-न-कुछ दृष्टिमें लेनेका स्वभाव पड़ा ही है। कुछ तो दृष्टिमें आयेगा। यदि मायाको दृष्टिमें न ले और कुछ क्षण सत्य बातको ही दृष्टिमें ले तो कौन रोकता है? इसका क्या बिगाड़ है? इसपर कौन जबरदस्ती किए है? कोई शरीरपर जबरदस्ती भी करे, कोई मारे-पीटे, बंधनमें बांध ले, कहींसे कहीं पकड़कर कोई ले जाये ऐसी स्थितिमें भी यदि यह जीव अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करता है तो उस समय भी इसको दृष्टिसे कौन रोक सकता है? कारागारमें हैं, बंधनमें बंधे हैं, वहाँ भी यह स्वतंत्रताका दर्शन करना चाहे तो वह अपने ज्ञानसे स्वतंत्र है और उस समयमें स्वतंत्रताकी दृष्टिका अमूर्त दृष्टिका वह लाभ ले रहा है।

दृष्टिके अनुकूल अनुभवन भैया! बाह्य स्थिति कैसी ही कहीं हो, स्वाद तो दृष्टिके अनुसार आयेगा। जैसे कोई किसी मैलेमें पड़ा हुआ है, पर मिश्रीकी डली मुखमें रखे हुए है तो वह तो मिश्रीका ही स्वाद ले रहा है, और कोई पुरुष बड़ी साफ जगहमें बैठा है, किन्तु कोई कड़वी चीजको मुखमें रखे हुए है तो वह तो कड़वा ही स्वाद ले रहा है। तो कितना सुगम और कितना पवित्र शासन प्रभुने बताया है कि भाई अपनी दृष्टिको निर्मल बनाओ। दृष्टि निर्मल बनानेमें कितना ही समय गुजर जाये, लगाइये समय कितने ही प्रयत्न करने पड़ें, करें प्रयत्न, और कितना ही बलिदान करना पड़े, पर एक इस निर्मल दृष्टिको प्राप्त कर लीजिए तो इस निर्मल दृष्टिको प्राप्त करनेका महत्व यह है कि संसारके सारे संकट इसके समाप्त हो जाते हैं। अपनेको निरखना है, अपनेको देखना है, कोई परतंत्रता नहीं, किसीकी अपेक्षा नहीं इस काममें। जिसमें कि यह जीव अपनेको बड़ा स्वाधीन समझता है। इतना वैभव हो जाये, तब ही हमें स्वतंत्रता रहेगी, समझता है स्वतंत्रता, मगर कितनी ही अपेक्षायें करनी पड़ती हैं, कितने ही लोगोंका मुख तकना पड़ता है और कितनी ही लोगोंसे व्यवहार रखना पड़ता है। क्या उन परिस्थितियोंमें इसको स्वतंत्रता है? स्वतंत्रताकी बात खुदमें खुदकी दृष्टिमें पड़ी हुई है। उसे तो यह जीव प्राप्त करता नहीं और बाहरी उपक्रमोंमें इतने साधन बना लें तो स्वतंत्रता मिलेगी, ऐसा भ्रम रख करके बाहरी कामोंमें पुरुषार्थ किया जा रहा है, प्रयत्न किया जा रहा है। सो भाई विवेक करना है और वह विवेक यही है कि यह समझ लेना है कि मैं यह हूँ और ये सब मायारूप हैं। विवेक कर लेना कोई कठिन बात नहीं है।

आत्मस्वभाव व विभावमें विवेक उत्पन्न करनेके लिये दर्पणके दृष्टान्तका प्रतिपादन एक दर्पणमें हाथकी छाया पड़ी है तो जहाँ छाया पड़ी है वहाँ दर्पणमें अंधेरा है, वहाँ अब दूसरी चीजका प्रतिभास नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ तो अंधकार छा गया, उसीका नाम छाया है। जहाँ अंधकार छाया वही छाया है। तो अब दर्पणमें जो छाया है बतलावो क्या यह दर्पणका निजी स्वरूप है? दर्पणमें दर्पणके स्वभावसे वह बात जगी है क्या? यद्यपि उस छायाका आधार दर्पण है और दर्पणकी स्वच्छताका ही यह चमत्कार है कि किसी बाह्यपदार्थकी छाया आ जाये। भीत, दरी, चौकी, चटाई आदिमें कहाँ उस तरहकी छाया पड़ रही है? उनमें दर्पण जैसी स्वच्छता

ही नहीं है। दर्पणमें कैसा ही प्रतिबिम्ब आया सो वह यद्यपि दर्पणकी स्वच्छतासे गुणका ही अभिनन्दन कर रहा है कि देखो दर्पणमें कैसी स्वच्छता है कि ऐसी छाया प्रकट हो जाती है। तो भले ही ऐसा कोई सूखा अभिनन्दन करे, लेकिन तथ्य यही समझना है कि दर्पणमें ऐसी छायाका हो जाना दर्पणका निजी स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है। यह छाया औपाधिक मायारूप है, विनश्वर है, नैमित्तिक है, इसकी जिन्दगी निमित्तके सद्भावपर आलम्बित है, यह मेरे स्वरूपपर आलम्बित नहीं है। तो यों निरखनेपर क्या यह नहीं जाना जा सकता कि दर्पणमें छायाका आना दर्पणका स्वभाव नहीं है, किन्तु यह दर्पणमें मायारूप है?

आत्मस्वभाव व विभावमें विवेक व विवेकका महत्व—दर्पणमें छाया व स्वच्छताका तथ्य निरखनेकी भांति खुदमें भी निरखिये कि ये रागद्वेष मोहादिक विकार भाव जो प्रकट होते हैं तो यद्यपि कुछ थोड़ी स्वातंत्र्यकी दृष्टिसे निरखनेपर यह ज्ञान होता है कि वहाँ रागद्वेष मोहादिककी तरंगें प्रकट हो जाती हैं। ये रागद्वेष मोहकी तरंगें इन दरी, चटाई आदिमें तो नहीं होती क्योंकि उनमें चेतना नहीं है, समझ नहीं है, मगर यह सूखा ही अभिनन्दन है। भीतर निरखें तो ये रागद्वेष मोहादिक विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं, ये हममें हैं। इनका वर्तमानमें आधार यद्यपि मैं हूँ, अन्य कोई अधिकरण नहीं है, मेरे परिणमन बन रहे हैं, लेकिन ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, किसी भी वस्तुका स्वभाव उस वस्तुके विनाशके लिए नहीं हुआ करता। जो मेरा स्वभाव है वह मेरे विनाशके लिए न होगा, और ये विकार ये तो मेरी बरबादीके लिए हो रहे, ये मेरे स्वरूप नहीं, औपाधिक हैं, नैमित्तिक भाव हैं, इनसे निराला मैं केवल चेतना मात्र हूँ, यह विवेक बने तो अनेक संकट, अनेक कलुषतायें, अनेक कर्म कलंक तुरन्त ही ध्वस्त हो जाते हैं, ऐसी अपने आपमें विभूतिका दर्शन परमात्मस्वभावमें प्रयुक्त परा शब्दकी व्याख्याके अवसरमें अपने आपको प्राप्त हाता है।

जइ पुण सुद्धसहावा सव्वे जीवा अणाइकालेवि।

तो तव चरणविहाणं सव्वेसिं विप्फलं होदि ॥ २०० ॥

परमात्माकी अन्तरङ्ग लक्ष्मीके वर्णनसे आत्माके शुद्ध स्वभावका स्मरण—परमात्मा शब्दका अर्थ किया जा रहा था, पर अर्थात् उत्कृष्ट लक्ष्मी जिसमें हो उसे परम कहते हैं, आत्माकी उत्कृष्ट लक्ष्मी बहिरङ्गमें तो समवशरण आदिक है, और अन्तरङ्गमें केवल ज्ञानादिक है। तो प्रभु अरहंत जिनेन्द्रदेव बहिरङ्ग लक्ष्मीसे भी युक्त हैं और अन्तरङ्ग लक्ष्मीसे भी युक्त हैं। समवशरणादिकको बहिरङ्ग लक्ष्मी यों कहा गया कि समवशरण जैसी शोभा और अमूल्य पदार्थोंकी लक्ष्मी अन्यत्र नहीं हो सकती। और न किसी मनुष्यके द्वारा सम्भव है, वह देवकृत रचना है, अनोखे ढंगकी रचना है, ऐसी रचना भगवान जिनेन्द्रके सान्निध्यके कारण होती है। वे देवगण भी प्रभुके सान्निध्य बिना ऐसी रचना नहीं किया करते। इस कारण इस शोभाको भगवान जिनेन्द्रदेवकी बहिरङ्ग लक्ष्मी कहा है। अन्तरङ्ग लक्ष्मी है केवलज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, ऐसी अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे शोभायमान परमात्मा होता है। परमात्मा शब्दकी व्युत्पत्तिसे यह सिद्ध होता है कि प्रभु उत्कृष्ट होते हैं, वे अन्य संसारी जीवोंसे अपनी एक विशेषता रखते हैं, निरन्तर ज्ञानमय और आनन्दमय अपनी अनुभूति करते रहते हैं। उनका यह शुद्ध परिणमन स्वयंसे हुआ है। इससे शुद्ध स्वभावका परिचय मिलता है।

शुद्धस्वभाव वाले जीवोंको तपश्चरणादि करनेके उपदेशकी निष्फलताका प्रश्न—अब इस समय एक जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि सभी जीव अनादिसे ही शुद्ध स्वभाव वाले हैं क्या? मानना तो पड़ेगा कि सभी जीव ऐसा ही शुद्ध स्वभाव रखते हैं लेकिन शुद्ध स्वभावका एकान्त कर लेनेपर एक शंका यह होती है कि

जीव यदि ऐसा शुद्ध स्वभाव वाला है सो स्वभाव तो अनादिकालसे होता है अतः इसका अर्थ है, कि जीव अनादिकालसे शुद्ध स्वभाव वाला है। तो तब जीव अनादिकालसे ही शुद्ध स्वभाव वाले सिद्ध हो गए याने कर्ममलकलंक उनके नहीं है। शुद्ध बुद्ध एक ज्ञानदर्शन स्वभावमात्र है तो ऐसे शुद्ध स्वभाव वाले जीव जब आनादिसे ही हैं तब फिर आचरण तपश्चरण ध्यान अध्ययन परीषहसहन आदिकका जो विधान बताया है शास्त्रोंमें, फिर वह निष्फल हो जायेगा। तपश्चरणसे क्या प्रयोजन? जीव तो शुद्ध स्वभाव वाला है, कर्ममलकलंकसे रहित है। वर्णन भी तो शास्त्रोंमें ऐसा किया गया है कि जीव कर्ममलकलंकसे रहित है, परद्रव्यका इसमें प्रवेश नहीं है। यह स्वयं अपनी सत्तासे सत् है। तो इस वर्णनसे भी यह सिद्ध होता है कि जीव शुद्ध है। तब उस शुद्ध जीवको यह उपदेश क्यों दिया जाता है कि संयम करो, तपश्चरण करो, ध्यान करो, अध्ययन करो, दान आदिक करो। वह तो शुद्ध है ही। उसको कोई आपत्ति ही नहीं है, फिर कैसे आपत्ति आदिकको दूर करनेके लिए तपश्चरण आदिक बनाये जाते हैं? यह एक जिज्ञासा हुई। इसी जिज्ञासासे सम्बंधित आगेकी गाथामें द्वितीय प्रश्न चलेगा।

ता किहे गिणहदि देहं णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि ।

सुहिदा वि य णाणारूपा कहं होदि ॥ २०१ ॥

शुद्ध स्वभाव वाले जीवोंके बन्धन, देहग्रहण व पर्यायवैचित्र्यकी असंभवताका प्रश्न—यदि यह जीव शुद्ध स्वभाव वाला है तब यह बतलाओ कि यह ऐसे अपवित्र शरीरको कैसे ग्रहण कर लेता कि यह औदारिक शरीर जहाँ मल-मूत्र, हड्डी, खून आदि घृणित पदार्थ हैं। इस घृणित पदार्थमय शरीरको ग्रहण कैसे कर लें? क्यों ग्रहण करता है? करना ही कैसे पड़ेगा? शुद्ध होनेपर या माननेपर जीव इस शरीरको ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि जब जीवोंका अनादिसे ही शुद्ध स्वभाव है तो उस स्वभावसे क्या शरीरग्रहण बन सकता है? कभी नहीं बन सकता। और, भी सुनो यदि सभी जीव कर्ममलकलंकसे रहित हैं, शुद्ध हैं तो फिर ये नाना प्रकारकी जो क्रियायें दिखनेमें आती हैं, गमन हुआ, आना हुआ, सो गया, भोजन किया, बैठ गया या व्यापार, लेखन आदिक जो क्रियायें देखी जाती हैं या ज्ञानावरण आदिक कर्मोंका जो बंधन बताया है वह इन सब बातोंको कैसे कर सकेगा, क्योंकि जीव शुद्ध है, इस शुद्ध स्वभावमें यह योग नहीं बनता कि वह किन्हीं क्रियाओंको कर सके या कर्मोंको बाँध सके। और, यह भी शंका होती है कि जीव यदि शुद्ध स्वभाव वाला है तो फिर इसके ये नानारूप कैसे बन गए? कोई सुखी है दुःखी है, कोई अमीर है गरीब है, कोई बड़ी सवारियोंपर चलता, कोई नंगे पैरों पैदल चलता, किसीको बड़ा सम्मान मिलता है किसीका बड़ा अपमान होता है आदिक नानारूप जो ये दिख रहें हैं ये रूप कैसे बन जायेंगे? जीव शुद्ध स्वभावी यदि है तो उसके ये सब रूप नहीं बन सकते, किन्तु देखा जा रहा है कि कोई जीव पशु है, पक्षी है, मनुष्य है, सुखी है, दुःखी है, अनेक क्रियायें करते हैं तो ये सब बातें कैसे सम्भव है? ऐसा यह जिज्ञासुने प्रश्न किया। उसके उत्तरमें कहते हैं!

सव्वे कम्मविवद्धा संसरमाणा अणाइकालमिह ।

पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा सुद्धा धुवा होंति ॥ २०२ ॥

अनादिसे कर्मनिबद्ध एवं संसरमाण जीवोंकी बंधध्वंस होनेपर सिद्धि और शुद्धिका प्रकाश—सर्व जीव अनादिकालसे कर्मनिबद्ध हैं, संसारमें घूम रहे हैं। बादमें कर्मोंका तोड़कर बन्धनको तोड़कर यह जीव शुद्ध, सिद्ध हुआ करता है। शुद्ध क्या कहलाता है? इस सम्बन्धमें दो दृष्टियोंसे समझना है द्रव्यदृष्टिसे और पर्यायदृष्टिसे। द्रव्यदृष्टिसे तो शुद्ध होनेका अर्थ यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपके स्वरूपसे सत् है। किसी दूसरे

पदार्थसे मिलकर सत् नहीं बनता। उसमें किसी दूसरे पदार्थका संसर्ग नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत्वसे सत् है। द्रव्यदृष्टिका इतना अर्थ है। जैसे कि हम स्थूल रूपसे आँखों देखते हैं कि अनेक पदार्थ हैं और वे अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं, उनमें एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे संसर्ग नहीं है यह मोटे रूपमें देखते हैं। वस्तुतः यहाँ प्रत्येक अणु सत् है, किसी भी सत् पदार्थमें किसी अन्य सत् पदार्थका मेल नहीं है, तादात्म्य नहीं है, प्रवेश नहीं है। अपने ही सत्वसे प्रत्येक पदार्थ सत् है। तो यों परसे निराला और अपने आपके स्वरूपसे तन्मय निरखनेको द्रव्य शुद्धि कहते हैं। पर्यायशुद्धिका अर्थ है कि पदार्थमें किसी प्रकारकी औपाधिक अशुद्धि न रहे। अशुद्धि सब औपाधिक हुआ करती है। जैसे जीवमें कर्मका बन्ध है, शरीरका संसर्ग है, सुख दुःख होते हैं, नाना क्रियायें होती हैं, अनेक भवोंमें गमन होता है, ये सब अशुद्धियाँ हैं। इन परमाणुओंमें स्कंधरूप बन जाना, अनेक प्रकारके परिणामन होना ये अशुद्धियाँ हैं। ये पर्यायें, ये अशुद्धियाँ न रहें, पदार्थ अपने स्वरूपसे स्वयं जैसा है उसही प्रकारसे व्यक्त हो जाये उसे कहते हैं पर्यायसे शुद्ध। अब तीसरी बात यह समझिये कि पर्यायसे शुद्ध कोई पदार्थ हो जाता है तो वहाँ यह मानना पड़ेगा कि ऐसा शुद्ध होनेका स्वभाव उसमें पड़ा है जिसको हम शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे ज्ञात कर रहे हैं। उक्त विवरणसे यहाँ यह निर्णय करना है, तो यों द्रव्यशुद्धि और पर्यायशुद्धिकी बात कही है।

द्रव्यशुद्धि, पर्यायशुद्धि व स्वभावशुद्धि—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक ये दो नये विभाग हैं। अब हम जिस दृष्टिसे निरखेंगे उस दृष्टिका हमें उत्तर मिलेगा। पर्यायदृष्टिसे देखनेपर तो यह मैं अशुद्ध आत्मा हूँ, पर द्रव्यदृष्टिसे यदि हम इसे निरखें तो द्रव्यदृष्टिकी शुद्धिका अर्थ यह है कि प्रत्येक पदार्थ परद्रव्यसे विविक्त व स्वद्रव्यमें अविभक्त है। तो द्रव्यदृष्टिसे जैसा शुद्ध देखा जाता है उस तरहका शुद्ध अब भी सब पदार्थ है। याने द्रव्यदृष्टिसे यह निरखना है कि किसी दूसरे सत्का मेल होकर सत् नहीं बना। और, यह त्रिकाल न्यायकी बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत्से सत् है, दूसरे सत्से मिल करके सत् नहीं बना। अब उसमें द्रव्यशुद्धि व पर्यायशुद्धिके अतिरिक्त स्वभावशुद्धिकी बात सुनिये। स्वभावशुद्धि इन दो के बीचकी बात है। उस द्रव्यमें ऐसा सत् होनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। तो स्वभाव स्वभावरूप हुआ करता है। जैसे गर्मजलमें भी अगर पूछा जाये कि इस जलमें ठंडा होनेका स्वभाव है कि नहीं? तो कहना पड़ेगा कि गर्म होनेपर भी आखिर जलमें जलका स्वभाव तो ठंडा है, तो कोई कहे कि कहाँ व्यक्त है ठंडापन? तो स्वभाव स्वभावरूपमें व्यक्त रहा करे यह नियम नहीं है। इसीको पर्यायशुद्धि कहते हैं स्वभाव है जैसा वैसा प्रकट नहीं हो पाना, उससे भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रहा तो यहाँ जीवको पर्यायदृष्टिसे निरखनेपर यह अनादिकालसे अशुद्ध है और स्वभावदृष्टिसे शुद्धको निरखते हैं तो उसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि अन्य पदार्थोंका मिलकर एक द्रव्य सत् नहीं हुआ है, किन्तु यह अपने स्वरूपसे ही सत् है दूसरेसे स्वरूपसे सत् नहीं है। जैसे कहते हैं स्वचतुष्टयसे सत् होना, पर चतुष्टयसे असत् होना बस इतना ही अर्थ द्रव्यशुद्धिका है। पर्यायशुद्धिका अर्थ है कि पर्याय उस प्रकारके व्यक्त हो गई जैसे पदार्थका निरपेक्ष स्वरूप है। और, उसमें जो शक्ति स्वभाव है उस शक्ति स्वभावका अर्थ है कि इस द्रव्यमें अपने आपके सत् रूप बने रहनेकी शक्ति है और ऐसे ही यह व्यक्त हैं, लेकिन परिणति हमारी मलिन हैं, हम कर्मोंसे बद्ध, संसारमें रूलते हैं और यहाँ कर्मबन्धन है। जब कोई जीव अपने इस कर्मबन्धनको तोड़ देता है और इस कर्ममलकलंकसे रहित होता है तो यह शुद्ध होता है। इस कारण यह जानना चाहिए कि जीवका स्वभाव शुद्धताका होनेपर भी परिणति अनादिसे ही इसकी मलिन चली आ रही है इस कारण तपश्चरण संयम आदिक उपायोंसे इस जीवको शुद्ध होना चाहिए, तब ही सदाके लिए संसार संकटोंसे यह जीव मुक्ति पा सकता है।

शुद्धस्वभाव होनेपर ही जीवकी अनादिबद्धता और विचित्रता—जितने जगतमें जीव हैं वे सब अपनेमें ऐसा तो जानते ही हैं कि मैं हूँ। मैं जीव हूँ तो जो मैं जीव हूँ उस जीवमें जीवका ही स्वरूप है। दूसरी चीजका स्वरूप नहीं है। जब जीवमें जीवका ही स्वरूप है तो इसके मायने यह है कि जीवका स्वभाव शुद्ध है। अगर जीवमें किसी अन्य चीजका स्वरूप आ जाये तो जीव न रहा। जीव है ज्ञानमय, जानता रहे, तो जाननका जिसका स्वभाव है ऐसा जीव अपने शुद्ध स्वभावमें रहता है, लेकिन आज देखो तो कोई जीव शुद्ध नहीं नजर आता। जीव पर्यायमें बंधे हैं, शरीरसे बंधे हैं, कर्मका बंधन है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है। नाना प्रकारकी इन जीवोंकी हालत हो रही है। और ये सब दुःखी भी हो रहे हैं तो व्यर्थ ही कल्पनायें करके दुःखी हो रहे हैं। कोई धनिक है तो वह भी चैनमें नहीं, धन बढ़ानेकी धुन बनी रहती है, शान्ति नहीं मिल पाती, परिणाम यह होता है कि वे धनिक भी आरामसे नहीं रह पाते, क्योंकि तृष्णा लगी है। निर्धन भी इस बातको सोचकर दुःखी रहता है कि मेरे पास धन नहीं है। वह निरन्तर परपदार्थोंकी चाह बनाये रहता है इससे दुःखी रहा करते हैं। ये परपदार्थको चाहकर यह जीव अपने सिरपर दुःख लादे फिरता है। और इसीसे यह इतना बड़ा कर्मबन्धन बंध गया है।

कर्मबन्धनसे मुक्तिका उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रका लाभ—हम आप कोई ऐसा उपाय बनायें कि जिससे चलकर इस कर्मबन्धनसे छुटकारा प्राप्त हो जाये। तो मूल उपाय यह है कि पहिले यह जानलें कि मैं इतना जीव हूँ, यह देह मेरा नहीं है, यह वैभव मेरा नहीं है, मैं सर्वसे निराला हूँ। आखिर वह समय भी तो आना है कि इस देहको छोड़कर जाना पड़ेगा। यहाँका सब कुछ छूट जायेगा। यदि यहाँकी कुछ भी चीज मेरी होती तो मेरे साथ जाती। मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान ही मेरा प्राण है, वही मेरा सर्वस्व है। इसके आगे मेरा कुछ नहीं है। यहाँ तो अज्ञानी जीवोंने बाह्यमें अपनी इज्जत मानकर अपनेको दुःखमें डाल रखा है। यह जीव तो ऐसी भावना बनाये कि मैं तो इस देहसे भी निराला हूँ, देह भी मेरा स्वरूप नहीं है। जब ऐसे अकेले स्वरूपको देखा जायेगा तो कुछ ध्यान बनेगा, मनके विकल्प जो यहाँ वहाँ दौड़ते हैं वे समाप्त होंगे। जब हम अपने स्वरूपको निहारें तो वह हुआ सम्यग्दर्शन और अपने स्वरूपको जानेंगे तो वह हुआ सम्यग्ज्ञान और रागद्वेष न करके अपने स्वरूपको जानते रहेंगे तो यही हुआ सम्यक्चारित्र। संकटोंसे छूटनेके उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। तो जब यह मनुष्य सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें अपना कदम रखता है, तपश्चरण करता है, निःसंगतामें तृप्त रहता है तो समस्त बंधोंको तोड़कर फिर यह जीव सिद्ध बनता है और वहाँ अनन्तकाल तक शुद्ध आनन्दमें रहता है। जन्म जरा मरण जो महान कठिन बाधाएँ हैं उनसे सदाके लिए मुक्त हो जाता है। अब सिद्ध भगवान जन्म न लेंगे। जन्म लेते हैं संसारी मोही प्राणी अथवा कर्मबन्धनसे बंधे हुए प्राणी। सिद्ध भगवान कर्मोंसे रहित हैं, वे जन्म जरा मरण आदि रोगोंसे परे हो गए हैं। तो देखिये आनन्द कहाँ मिला है? वह आनन्द मिला है केवल रहनेमें। यहाँ तो कोई अकेला रहना ही नहीं चाहता, लेकिन उस आनन्दको प्राप्त करनेके लिए वैसा ही अकेला बनना पड़ेगा। ऐसा अकेला कि अपनेमें इन विचारोंका, इन विकारोंको साथ न रखकर केवल ज्योतिमात्र ज्ञानस्वरूप निरखना होगा। इसी उपायसे मुक्ति प्राप्त हो सकेगी अन्यथा संसारके जन्म मरण ही करने पड़ेंगे। तो निर्णय इस गाथामें यह किया है कि सभी जीव अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बंधे हैं, जन्म मरणकी परम्परामें पड़े हुए घोर दुःख सह रहे हैं। सिद्ध भगवान भी ऐसे विकट बन्धनको तोड़कर सिद्ध हुए हैं और सदाके लिए शुद्ध अनुभूतिमें विराजमान हैं। अब यह जिज्ञासा होती है कि वह बन्धन क्या कहलाता और मूलमें उसका बन्ध किस प्रकार है जिससे यह जीव बद्ध होता है।

जो अण्णोण्ण-पवेसो जीव-पएसाण कम्म खंधाणं। सव्व-बंधाण वि लओ सो बंधो होदि जीवस्स ॥ २०३ ॥

जीवके बन्धनका वर्णन—जीवके प्रदेशोंका और कर्मस्कंधोंका जो परस्पर प्रवेश है उसका नाम बन्धन है। मूल बन्धन यही है कि ये जीव और कर्म (दोनों) परस्पर बंध गए। यद्यपि स्वरूपको देखो तो कर्ममें कर्म है, जीवमें जीव है मगर परस्पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि वहाँ जीव बन्धनमें बद्ध है और परतंत्र है। जैसे गायको गिरिमासे बाँध दिया जाता है तो गला और गरिमाका परस्परमें बन्धन नहीं है किन्तु गिरिमाका एक छोरसे दूसरे छोरका बन्धन है। मगर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि वह गाय उस गिरिमासे ऐसा बंध गई कि कहीं जा नहीं सकती। तो इसी तरह यहाँ यद्यपि यह जीव अनादिकालसे अपना ही स्वरूप रख रहा लेकिन ऐसा बद्ध चला आ रहा है कि जीव रागद्वेषादि परिणाम करता है तो उसके निमित्तसे कर्म बँधते हैं, कर्मोंका उदय आता है, तब वह जीव रागद्वेषी होता है। यह जीव अमूर्त है और कर्म भी इतने सूक्ष्म हैं कि जिन्हें अमूर्तकी तरह समझ लीजिए। अमूर्त तो नहीं है, उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि प्रतिघातरहित हैं। उनका जो बन्धन होता है तो जीवके सर्वप्रदेशोंमें उनका प्रवेश है बन्धन है, मगर स्वरूपमें प्रवेश नहीं है। एकक्षेत्रावगाह तो हो गए कि जीवके उन असंख्यात प्रदेशोंमें उन अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओंका प्रवेश है और वे कर्म कर्मरूपसे आये हुए हैं और उनका यही बन्धन है, पर इसको यदि वस्तुरूपसे देखें तो जीवमें किसी अन्यका प्रवेश नहीं, अन्यमें जीवका कुछ प्रवेश नहीं, एकक्षेत्रावगाहकी दृष्टिका प्रवेश है, मगर परके सत्वके बलका सत्व नहीं है, याने परपदार्थका उसमें सत्व मिलाकर जीवको सत् बताना यह मूढतापूर्ण प्रलाप है। जीव सत् है, अपने आपमें उसका सत्व है, पर अनादिसे ऐसा बन्धन है कि जीवके प्रदेश और कर्मपरमाणु इनका परस्पर प्रवेश है, एकक्षेत्रावगाह है और वहाँ जीवका बन्धन होता है।

प्रत्येक जीवके असंख्यात प्रदेश और उनमें अनन्त कार्माणवर्गणावोंका बन्धन—जीवके प्रदेश कितने हैं? सूत्रजीमें बताया है कि असंख्यात प्रदेश हैं। असंख्यात प्रदेशका यह अर्थ है कि कदाचित् जीव फैल जाये सारे लोकमें तो फैल सकता है, और लोकमें हैं असंख्यात प्रदेश। असंख्याते प्रदेश असंख्याते तरहके हैं, पर उत्कृष्ट प्रमाण जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने प्रदेश बराबर है। वैसे तो यदि एक अंगुल जगहको भी नापा जाये तो उसमें असंख्याते प्रदेश कहे जायेंगे। एक सूर्यके द्वारा कागजपर गढ़ा बने तो जितनी जगहमें वह गढ़ा बना है वहाँ भी असंख्याते प्रदेश हैं, एक प्रदेशकी जगहको कोई नहीं निहार सकता, संख्यात प्रदेशकी जगहको कोई बता नहीं सकता है। यह सारा भारत देश असंख्यातप्रदेशी है। और सारा तीन लोक यह भी असंख्यात प्रदेशमें है। जब अरहंत भगवान आयुके अन्तसे पहिले समुद्धात करते हैं तो उनके जीव प्रदेश तीन लोकमें बातबलयोंमें सब जगह व्याप जाते हैं, तो जीवका परिमरण कितना बड़ा है? यदि वह प्रदेशसे फैले तो लोकाकाशके बराबर है, लेकिन यह फैला हुआ नहीं है। अनादिसे ही यह देहप्रमाण है। जो शरीर मिला है उस शरीरके बराबर ही यह जीव है। जैसे आज जो मनुष्य शरीर है तो उतना जीव इस शरीरके बराबर है, न कम है न अधिक है, और मरण करके किसी अन्य गतिमें गया, वहाँ जो देह मिला उस देहके बराबर हो गया। जब यह मनुष्य पैदा हुआ था तब जो शरीर मिला उस ही प्रमाण था यह। जैसे ही इस जीवका शरीर बढ़ा वैसे ही जीवके प्रदेशोंका भी फैलाव हुआ। तो संसारमें सर्वजीवोंके प्रदेश देहके बराबर विस्तृत हैं और जब यह मनुष्य मुक्त होता है तो जिस देहसे मुक्त होता है। मुक्त होनेपर इस जीवके प्रदेशके न तो फैलनेका कारण रहा, और न संकोचका कारण रहा, संकोच और विस्तार ये

कर्मादयाका निमित्त पाकर होते थे, जब कर्म न रहे तो ऐसी स्थितिमें जीवने आयुके क्षयसे देहको तो छोड़ दिया, लेकिन जिस आकारमें रहते हुए इस देहको छोड़ा गया है उतना ही आकार उस सिद्धका रहता है। तो उतना आकार रहा। उसका कारण यह है कि जो था सो ही रहा। जीवके प्रदेश अधिक फैले तो ये कर्मके सम्बंध बिना होगा, जीवके प्रदेश सिकुड़ जायें तो यह भी कर्मके सम्बंध बिना न होगा, क्योंकि संकोच और विस्तारका कारण कर्मादय है। जैसे नोकर्म, जैसे कार्माण शरीर, जैसा जब उदय आता है उस प्रमाण इस जीवके प्रदेश हुआ करते हैं। तो अनन्त आत्माओंमें प्रति एकात्माके सर्वप्रदेशोंमें अनेक पुद्गल स्कंधोंका प्रवेश है।

अनन्त जीवोंमें प्रत्येक जीवमें अखण्डता और असंख्यातप्रदेशिताका कथन—कोई लोग मानते हैं कि केवल एक ही जीव है और वह सारी दुनियामें फैला है, पर ऐसा अनुभव नहीं बैठता। तो हम आपका जो अनुभव है वह यह बताता है कि हममें सुख होता है, उतनेमें ही सुख होता है जितने कि देहमें हम बसे हुए हैं। यहाँ यह सुखका अनुभव है, यदि जीव एक होता तो जब सुखी होता तो सर्व जगह रहने वाला जो जीव है याने अन्य देहोंमें रहने वाला जो जीव है उसे भी अब उसी सुखसे सुखी हो जाना चाहिए, क्योंकि एक पदार्थमें यह भेद न बन पायेगा कि एक चीजका एक हिस्सा और भाँति परिणमे और दूसरा हिस्सा और भाँति परिणमे। ऐसा कहीं देखा जाता हो तो कहा जाना चाहिए कि वह एक चीज नहीं है। जैसे काठ एक तरफ जल रहा है बाकी तरफ नहीं जल रहा है तो समझना चाहिए कि वह काठ एक नहीं है, अनन्त परमाणुओंका स्कंध है। एक पदार्थ उतना हाता है कि जो भी परिणमन हो तो पूरेमें होना पड़े, एकके आधेमें परिणमन हो या विरुद्ध परिणमन हो ऐसा नहीं होता। जो कुछ चीजें हम आपको दिखती हैं वे वास्तवमें एक नहीं हैं और तभी इसके टुकड़े हो जाते, एकका कभी टुकड़ा नहीं होता। जैसे यहाँ काठके टुकड़े हो जाते हैं, सींक वगैरह तोड़ दी जाती हैं, इनका भाग हो जाता है तो ये एक चीज नहीं हैं। उनमें अनेक स्कंध हैं तो कोई अलग हो गया कोई कहीं पड़ गया। एक पदार्थ हो तो उसके हिस्से नहीं हो सकते। यदि जीवको माने एक और सर्वव्यापक तो वहाँ यह दोष आयेगा कि उसे जीवके एक प्रदेशमें परिणमन हो तो वही परिणमन सब जीवोंमें होना चाहिए। तो सभी जीव एक साथ एक सुखसे सुखी हों और एक साथ एक दुःखसे दुःखी हों, ऐसी बात बने तब तो मानें कि एक जीव है, लेकिन ये भिन्न-भिन्न अनुभव हो रहे, इस कारणसे यह अनुभव होता है कि जीव एक नहीं है किन्तु अनन्त है। उन अनन्त जीवोंमेंसे एक एक जीवकी चर्चा चल रही है कि प्रत्येक जीव अखण्ड और असंख्यातप्रदेशी है।

कर्मांमें प्रकृति स्थिति आदिका बन्ध—इस जीवमें कर्मका बन्ध है, कर्मबन्धन है, जब रागद्वेष मोहका परिणाम होता है तो यहीं पड़ा हुआ जो कार्माण स्कंध है वह कर्मरूप बन जाता है। उनमें यह प्रकृतिका बंध हो जाता कि इस प्रकृतिवाले कर्मके विपाकसे जीव अज्ञानी बन गया, इस प्रकृति वाले कर्मके उदयसे जीव सुखी दुःखी बन गया। उनमें ऐसी और जब इनके खिरनेका समय होगा, स्थिति पूरी हो जायेगी तो अमुक प्रकारका फल देकर अनुभाग पड़ते हैं। उनमें ऐसा बँटवारा हो जाता कि अमुक प्रकृति वाले कर्म इतनी संख्यामें होंगे और अमुक प्रकृति वाले कर्म इतनी संख्यामें होंगे। यों चार प्रकारका बन्धन इस जीवके हो जाता है। जीव हैं अनन्त। यहीं देख लो किसी जगह अगर कीड़ी निकल आती हैं तो कितनी बड़ी संख्यामें निकलती हैं, या कभी मक्खी अथवा टिट्टियोंको देखा होगा, कितनी बड़ी संख्यामें निकल पड़ती हैं, यह तो त्रस जीवोंकी बात है। जब बड़े-बड़े जीवोंकी संख्या भी नहीं बतायी जा सकती तो फिर उन छोटे-छोटे जीवोंकी तो बात ही क्या कहना? इस शरीरके अन्दर असंख्याते जीव भरे हैं, और भी त्रस जीव हैं, जिन्हें रक्त अणु, मांसअणु आदिक कहते हैं, ऐसे भी बहुतसे

जीव पाये जाते हैं, और निगोद जीव तो अनन्त हैं ही। ऐसे जीवोंकी संख्या नहींकी जा सकती। इनमें प्रत्येक जीवके प्रदेश असंख्यात हैं। और एक एक प्रदेशमें कर्मप्रदेश बहुतसे भरे हुए हैं।

जीवके अपने भावोंपर अपने भविष्यकी निर्भरता—यहाँ इस बातका निर्णय करना कि भविष्य हम अपना अपने आप बना लेते हैं। जैसे हम कर्म करते हैं वैसा हमको फल प्राप्त होता है। हम छोटे कर्म करें और उससे भले फलकी आशा रखें तो यह नहीं हो सकता। छोटे कर्म करेंगे तो छोटा फल पायेंगे, अच्छे कर्म करेंगे तो अच्छा फल पायेंगे, यह व्यवस्था जीव और कर्मके सम्बन्धमें अपने आप बनी हुई है। ऐसा नहीं है कि कोई अलग जज हो और वह हमारा फैसला करे, हमको सुखी दुःखी करे। इसमें तो वह गलती भी खा सकेगा, पर जहाँ ऐसा प्राकृतिक सम्बन्ध है कि हम जैसा भाव करते हैं वैसा ही कर्मबन्ध होता है और जैसे कर्मका उदय होता है वैसा ही जीवको सुखी अथवा दुःखी होना पड़ता है। यह एक प्राकृतिक बात हो गई। यह एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वाली बात हो गई। जैसे घड़ी ठीक है, चाबी भरी है तो उसे देखें अथवा न देखें वह चलती रहेगी, उसके चलनेमें कोई फर्क नहीं आता, वहाँ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जब रागद्वेष परिणाम करता है तब कर्मबन्ध होता है। जब कर्मोदय हाता तो जीवमें रागद्वेषादिक होते। होते हैं प्रत्येक जीवमें, उनके अपने परिणामनसे, कर्ममें भी कुछ होना है होता है, मेरे परिणामनसे परपदार्थमें एक निमित्तनैमित्तिक भाव है, यह सब व्यवस्था प्रकृत्या बनी हुई है। तो इस तरह आत्मामें प्रवेश प्रदेशका बन्ध है और वह बन्ध धन है। जैसे कि लोहेका मुदगर या गोला हो तो वह अपनेमें धन है, बीचमें कोई जगह खाली नहीं रहती है इसी प्रकार इस जीव प्रदेशमें कर्मका बन्ध धन है, यहाँ कोई प्रदेश घिरा नहीं रहता, तो ऐसा दृढ़ जीवके साथ बन्धन लगा है, सर्वप्रदेशोंमें अनन्तानन्त कर्म परमाणुओंका बन्धन है, और यह बंध परम्परा अनादिकालसे चली आ रही है।

हम आपपर वास्तविक संकट और उससे छूटनेके उपायके सम्बन्धमें विचार—हम आपपर कोई संकट है तो यही है कि कर्मबन्धन है, देहका बन्धन है, जन्म मरण करना पड़ता है, बस यही संकट है। ये कोई संकटकी बात नहीं है कि धन कम हो गया, कोई इज्जत नहीं है, कोई लोग अपमानजनक वचन बाल रहे हैं आदि, इन्हें तो विवेकपूर्वक सह लेना चाहिए। इनमें अधीर न होवें और उपाय ऐसा बनायें कि कर्मोंसे हमारा छुटकारा हो, जन्म-मरणका चक्र मिटे। अगर यह उपाय हम बना सके तो इतना उत्कृष्ट कुल पाना, मनुष्यभव पाना, श्रेष्ठ बनना आदि सब सार्थक हो जायेंगे, और एक कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय न बना सके तो कितने ही धनका ढेर हो जाये, यह क्या साथ दे देगा? कितने ही परिजन हो जायें तो क्या ये मददगार हो जायेंगे? ये सब वैभवपर हैं, ये सब परिजनपर हैं, ये सब प्राप्त समागमपर हैं, इन समस्त परपदार्थोंसे इस जीवका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। आत्माका प्रयोजन तो इसमें है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रको पूर्ण बनायें, अपने आपको निहारें, अपने आपका स्वरूप समझें, अपनेमें गुप्त हो जायें, ऐसा उपाय बनायें। बाहरी पदार्थोंमें हर्षविषाद न हो ऐसी उदारता आये तो इससे ही इस आत्माको शान्तिका मार्ग मिलेगा और जीवन सफल हो जायेगा। एक यही काम यदि न कर सके तो इस मानवजीवनके पानेका कुछ भी लाभ न उठाया जा सका।

उत्तम-गुणाण धामं सव्व-सव्वाण उत्तमं दव्वं।

तच्चाण परम तच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदे ॥ २०४ ॥

जीवकी उत्तमगुणधाररूपता—उत्तम गुणोंका घर यह जीव है। पदार्थ अनेक हैं और प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण होते हैं। जैसे पुद्गल हैं, जो दिख रहे हैं उनमें जो एक एक परमाणु हैं उनमें रूप रस गंध स्पर्श आदिक अनेक

गुण हैं किन्तु उन गुणोंकी महिमा जीवहितमें नहीं है और जीवमें ज्ञान दर्शन चारित्र आदिक अनन्त गुण हैं, तो इन गुणोंकी बड़ी महिमा है। कारण यह है कि जीव जानने वाला है इसलिए लोकमें जितने भी पदार्थ हैं सभी पदार्थोंमें प्रमुख द्रव्य जीव है। जीव न हो तो यह पता कैसे लगे कि लोकमें क्या-क्या है? है जो कुछ है सो है। और देखिये यदि जीव न होता तो ये सब जो किवाड़ भींत, चौकी, दरी आदिक पदार्थ दिख रहे हैं ये भी न होते। जैसे यह जो काठ है तो आखिर पहिले वृक्ष था तभी तो यह काठ बना। यह वृक्षकी सकल कैसे बनी? वहाँ जब जीव आया और जीवने आहरण किया तो उसका रूप बना, वृक्ष बना। ये जो ईंट भींत आदिक दिख रहे हैं ये पृथ्वी जीव ही तो थे। जो जो भी चीजें दिख रही हैं वे सब इस जीवके सम्बन्धसे ही बनी है। यदि यह जीव न होता तो ये कोई भी चीजें न होती। सर्व जगत शून्य होता। तो सर्वजीवोंमें जीव पदार्थकी इतनी बड़ी महिमा है, अन्तः देखिये कि जितने भी लोग क्लेश मान रहे हैं वे सब इस अज्ञानसे हैं, तो ऐसी स्थितियाँ कि जिनको आजके लोग कहते हैं कि कैसे छोड़ा जाये, कच्ची गृहस्थी है, क्या करेगे ये बच्चे लोग? कैसे होगा घरका कामपर पुराने ऋषि-संतोंको देखा जब वे विरक्त हुए तो सब कुछ छोड़कर चल दिए। सुकौशल स्वामीकी स्त्रीके पहिला भी गर्भ था,पर जब उन्हें वैराग्य हुआ तो छोड़-छाड़कर चल दिए। लोगोंने बहुत समझाया कि अभी कच्ची गृहस्थी है, संतान हो जाने दीजिए, उसका राज्य अभिषेक कर दीजिए, परन्तु उन्होंने एक भी न सुनी। इस जीवको जब ज्ञानज्योति जगती है तो फिर वहाँ अदया नहीं कह सकते। दया और अदयाका प्रश्न तो वहाँ है जहाँ कषाय है जहाँ केवलज्ञान है और यह जान भी लिया गयाकि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे परिणामते रहते हैं, उनका कोई दूसरा रचने वाला नहीं है। तो जब यों सम्यक् ज्ञानका उदय आयेगा तो वहाँ अदयाका कोई क्षण अवसर नहीं। जान लिया कि मैं मैं हूँ,पर पर है, मेरा भविष्य मेरेपर भी निर्भर है, सत्यज्ञान हो गया, विरक्त हो गए।

बाह्य व्यवसायकी अनर्थकता—लोग तो सोचते हैं कि खूब धन कमाओ, किसलिए? तो वहाँ दो उत्तर मिलते हैं एक तो यह कि इस लोकमें मेरी इज्जत बढ़ेगी, जहाँ जायेंगे समाजमें अग्रस्थान मिलेगा, मेरी पूछताछ होगी, दूसरा उत्तर यह होगा कि हमारे लड़के लोग सुखपूर्वक रहेंगे। दोनोंके उत्तरकी सोचें कि जिन लोगोंमें हम इज्जत चाहते हैं वे लोग हैं क्या? संसारी प्राणी, जन्म मरणके प्रेरे, महादुःखी लोग हैं और उनमें मैं अपने लिए कोई पोजीशन चाहूँ तो यह अज्ञान है यहाँ किसकी पोजीशन रही?

चक्रवर्ती जब छह खण्डपर विजय प्राप्त करमें वृषभाचल पर्वतपर आता है अपना नाम खोदनेके लिए तो उसकी जगह नहीं मिलती। उसे विवश होकर किसी नामको वहाँसे हटाकर उस जगह अपना नाम लिखना पड़ता है, ४०-५० कोशका वह विस्तार हैपर कहीं अपना नाम खोदनेके लिए उस चक्रवर्तीको जगह नहीं मिलती। तो देखिये न जाने कितने ही चक्रवर्ती हो गए,पर सभीको यहाँका सब कुछ छोड़कर जाना पड़ा। तो यह सांसारिक इज्जत पोजीशन कुछ सारभूत चीज नहीं है। हम यदि अपने आत्माका सही स्वरूपका ज्ञानानुभव कर लेते हैं निर्विकल्प बुद्धिसे, गुप्त होकर, बाहरसे किसीमें भी कुछ अपनी बात न जतानेका भाव रखकर यदि भीतर वह अपने ज्ञानस्वरूपको देखकर उसमें मग्न होकर एक बार भी अनुभव कर लें, जिसे स्वानुभव कहते हैं, सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह अनुभव अगर प्राप्त हो तो सच्चा मार्ग उसे मिलेगा और वह जानेगा कि आनन्दका उपाय यही अपने अन्दर है। बाहरमें आनन्दका उपाय नहीं है। जिन्होंने यह जान लिया उनको मोह उत्पन्न नहीं होता। दूसरी बात घरमें जितने भी कुटुम्बीजन हैं सब जीव ठीक उतने ही जुदे हैं जितने कि जगतके अनन्त जीव। खूब

तर्क-पूर्वक विचार लीजिए। जब सत्ता न्यारी-न्यारी है, प्रत्येक जीव अपने ही भाग्यसे जन्म मरण करता है, सुखी-दुःखी होता है, मेरी व्यवस्था मेरे ही साथ है, उसक सत्व उस हीमें है, उसका कोई गुण मेरेमें नहीं है। तो अपनेसे भिन्न जैसे जगतके अनन्त जीव हैं उसी प्रकार भिन्न ये घरमें बसे हुए जीव हैं। इनका उदय है। कोई चाहे कि हम इन बच्चोंका ऐसा साधन बना जायें कि सदा सुखी रहें तो जीवनभर बड़ा श्रम करके अपना जीवन बिताया, पर होगा वैसा जैसा कि उनका उदय है। तो आप कुछ भी काम कर लें, पर परिजनोंका जैसा उदय है उसके अनुसार चीजें प्राप्त होंगी। अगर परिजनोंका उदय अनुकूल नहीं है तो चाहे आप कितना ही कुछ जोड़कर धर जायें, सब निकल जायेगा।

सागारजीवनमें सही योजना—आपकी जो योजना अभी तक चल रही है वह कोई सही योजना नहीं है। जैन धर्ममें यह बताया है कि गृहस्थजनोंका कर्तव्य है कि वे न्यायनीतिसे धनोपार्जन करें, उसमें उदयानुसार जो भी हो उसमें व्यवस्था बना लें। आयका कुछ भाग गृहस्थीके खर्चके लिए, कुछ भाग धार्मिक कार्योंके लिए, कुछ भाग परोपकारके लिए, कुछ बचतके लिए, यों विभाग बनाकर धनका उपयोग करें। जब जैसी स्थिति हो उसी माफिक उसका विभाजन करके अपनी व्यवस्था बना लें। स्थिति कैसी भी आये उसमें घबड़ायें नहीं। कभी यह आकांक्षा न रखें कि हमारे पास इतना धन हो जाये तब हम स्वतंत्र होकर धर्मपालनमें लग जायेंगे। अरे इस धर्मपालनके कार्यको अभीसे करने लगना चाहिए, क्योंकि जब आपकी पूर्वमें चाही हुई स्थिति आ भी जायेगी तो वहाँ आपके और ढंगके विकल्प बन जायेंगे, वहाँ भी आप अपनेको फंसा हुआ अनुभव करेंगे और धर्मपालनमें लगनेका काल और भी लम्बा होता जायेगा। इस धर्मपालनके कार्यको फिर कभी कर भी न सकेंगे। देखिये अनेक घटनायें सुननेमें आती हैं कि चलते फिरते अचानक ही किसीका मरण हो गया। तो ऐसी स्थितिमें अपना कर्तव्य यह है कि अपने आत्माकी सुध लें। अपने आपकी सम्हाल करें, अपनी सम्हाल अगर बन जायेगी तो बाहरी बातें अनायास बन जायेंगी। जब तक संसारमें हैं तब तक स्थितियाँ अच्छी मिलेंगी। एक अपने आपकी सम्हाल न हो पायी तो बाहरी स्थितियाँ भी ठीक न रहेंगी और अपना भविष्य भी ठीक न रहेगा, इस कारण सम्यक्त्व लाभपर आचार्य संतोंका प्रमुख अनुरोध रहा कि किसी भी प्रकार इस सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो।

सम्यक्त्वलाभका परिचय और महत्व—सम्यक्त्व प्राप्त हुआ या नहीं इसको यदि जानना है तो अपने अनुभवसे जान भी सकते हैं। हमको किसी भी समय क्या ऐसी स्थिति आयी, क्या कभी ऐसी ज्ञानानुभूति हुई कि जहाँ किसी भी परपदार्थका विकल्प न हो और ज्ञानमें ज्ञान समा गया हो? केवल ज्ञान ज्योति ही ज्ञानमें आयी हो, ऐसी अनुभूति हुई हो कभी जो एक अनुपम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ होती है, तो समझिये कि हमें सम्यक्त्वका लाभ हुआ है। अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति पा लेना यह सबसे बड़ा भारी काम है। अनेक मुनिराज ऐसे हुए हैं जिनको उनके जमानेमें कोई जानने वाला भी न था, लेकिन वे भी सिद्ध हुए हैं और सिद्ध होनेपर उनका ज्ञान, उनका आनन्द वैसा ही है जैसा कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुष आदिनाथ जैसे तीर्थकर सिद्ध हुए हैं, तो जगतमें कोई मुझे समझे, पूछे, जाने, ये सब विकल्प तो इस अज्ञानकी नींवपर होते हैं। पवित्र जैन शासनको पाकर असली कमाई यह करना है कि हम अपने आपमें एक बार भी बाहरी पदार्थोंका ख्याल तजकर, निर्विकल्प रहकर ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिको प्राप्त करें। यह काम जतानेसे नहीं होता, यह काम दिखानेसे नहीं होता। जहाँ भी हों, अपने आपपर यदि दया हुई हो कि ये जन्ममरण तो संसारके झंझट हैं और हमें इस जन्म मरणसे छुटकारा बनानेके उपायमें ही लाभ है। यदि ऐसा करुणा और रुचि जगी हो तब तो सम्यक्त्वका उपाय बन सकता है

अन्यथा नहीं। तो आप यह निर्णय करलें कि ये बाहरी समागम मेरे कब तक साथी है? क्या अब भी साथी हैं? क्या मेरेको सुख शान्तिके साधन हैं या आकुलताके साधन हैं या विकारके साधन हैं? यह ही निर्णय करके देख लो। यदि यह बात सत्य समझमें आये कि सर्व जीव अजीव यहाँ तक कि यह देह भी मेरे स्वरूपसे अलग चीज है और इसके लगावमें मेरेको शान्ति नहीं सन्मार्ग नहीं है। यदि ऐसा निर्णय बने तो चाहे आप विशेष न कर सकें पर कोई समय आप अपेक्षा करके अपनी उस निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप अनुभूतिको पा सकते हैं। वह अनुभूति यदि मिले तब तो समझिये कि हमारा यह मनुष्यभव पाना सार्थक है। और वह अनुभूति अगर न मिली तो जैसे अनेक भव पाये, मरण किया, जन्म लिया, बस उसी परम्परामें यह भव भी पाय, जन्म लिया, मरण किया मगर हाथ कुछ न लगेगा। एक अपने इस जीवतत्वको देखें, अपने अन्तः वैभवको देखें कि मेरेमें वास्तविक विभूति क्या बसी हुई है? अनुपम प्रतिभामात्र, ज्ञान ज्याति स्वरूप, जिसकी उपमा देनेके लिए अनन्तप्रदेशी है लेकिन वह अचेतन है। जितना यह आकाश है यह सब तो इस चेतनके एक कोनेमें पड़ा रहता है। जब ज्ञानका विकास होता है तो तीन लोक और तीन कालके सर्वपदार्थ इसके ज्ञानमें समाये रहता है।

जीवकी सर्वद्रव्योंमें साररूपता—यह जीव उत्तम गुणोंका घर है। सर्वद्रव्योंमें उत्कृष्ट यह जीवतत्व है। जहाँ समयसारकी व्याख्याकी है तो वहाँ अर्थ बताया है कि समय नाम है सर्व पदार्थोंका। समयमें दो शब्द हैं सम् और अय्। अय्के मायने हैं प्राप्त होना। जो अपने गुण पर्यायोंको प्राप्त करे उसको समय कहते हैं। तो समय मायने चीज, वस्तु, पदार्थ। तो समय ६ प्रकारके हैं जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल। और, इन सब समयोंमें कायने सर्वपदार्थोंमें सारभूत पदार्थ है जीव। तो समय नाम जीवका भी है। जो एक साथ सर्व गुण पर्यायोंको जाने उसे समय कहते हैं। तो इन सब पदार्थोंमें श्रेष्ठ है जीव, और इस जीवमें भी सारभूत चीज क्या है? तो जीवके रूप बहुत विस्तृत हैं। देव, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदिक बहुत विस्तार हैं। और, भावोंकी दृष्टिमें अनेक प्रकारके क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक विस्तार हैं। और, भावोंकी दृष्टिमें अनेक प्रकारके क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक विस्तार हैं जीवमें, लेकिन उन सब विस्तारोंमें कुछ सार नहीं है। सारभूत तो एक वह ज्ञानमात्र स्वरूप है। उसका कितना विस्तार है, मूलमें तो कोई एक बात है, अनेक बातें तो आयी हुई होती हैं और मूल बात कोई एक होती है। तो जीवमें मूल बात एक चेतना है, फिर रागद्वेष मोह आदि ये बस तो आयी हुई बातें हैं। तो जो स्वाभाविक है, सहजस्वरूप है ऐसा जो चेतना धर्म है चैतन्य, वही सार है। अपने आपको हर एक जीव किसी न किसी रूपमें श्रद्धान किए हुए है मैं अमुक चंद हूं, अमुक प्रसाद हूं, अमुक लाला हूं, समझदार हूं, कम समझदार हूं आदि। मैं क्या हूं? हर एकके चित्तमें इसका कोई न कोई उत्तर मिलता है। जब यह अंतः उत्तर आने लगे कि मैं विशुद्ध चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व हूं तब समझिये कि हाँ अब मैंने अपने आपको पहिचाना। पर अपने आपकी बात माने कैसे? इसके लिए तत्वज्ञानका अभ्यास करके उसको दृढ़ श्रद्धान बनाइये। जब यह श्रद्धान बनता है कि मैं चैतन्यमात्र हूं तब समझिये कि हमने अब सारभूत चीज प्राप्त की।

जीवमें सार स्वरूपके लाभका उद्यम—जीवमें भी सारभूत बात ज्ञानसाधना है, उसकी प्राप्तिके लिए ही यह उपाय है कि देवदर्शन करें, भगवानकी रोज पूजा करें। उसमें हम क्या सीखते हैं? वहाँ गुणोंका स्मरण तो करते हैं, पढ़ करके, चरित्र बाँच करके हम प्रभुके गुणोंका स्मरण करते हैं, क्यों करते हैं कि उनका स्मरण करनेसे हमें अपनी अनुभूतिकी खबर आ जाये कि मैं भी ऐसा एक श्रेष्ठ तत्व हूं ज्ञानस्वरूप। इसे न मानकर और अन्य ग्रन्थ रूप अपनेको मानकर यह जगतमें भटकना बन रहा है। आज यहाँ हैं तो यहाँके प्राप्त समागमोंको अपना मानते हैं, उन्हें ही अपना

सर्वस्व समझते हैं, इस भवके पहिले जब किन्हीं अन्य भवोंमें थे तो वहाँके प्राप्त समागमोंको अपना मान रहे थे, उनको ही अपना सर्वस्व समझ रहे थे, परन्तु जैसे पूर्वभवोंके प्राप्त समागम आज अपने लिए कुछ नहीं हैं ऐसे ही आजके ये प्राप्त समागम भी सब विघट जायेंगे। मेरे लिए ये कुछभी न रहेंगे। यह जीव इस ममताके कारण इन प्राप्त समागमोंको नया और अपूर्वसा समझता है। जब तक यह ममता इस जीवके साथ रहेगी तब तक यह प्राप्त होने वाले समागमोंको नई चीज और एक अपूर्व चीज मानता रहेगा। धन्य हैं वे जीव जो कि इस ममताकी धाराको तोड़ देते हैं। अपने सत्यस्वरूपके परिज्ञानसे यही फायदा मिलता है कि यह मोह टूट जाता है।

मोहसे निवृत्त होनेमें ही भलाई—इस मोहको मोही लोग बड़े प्रशंसाके रूपमें लेते हैं, जैसे इसको अपने घरसे बड़ा मोह है, यह अपने घरका बड़ा ख्याल रखता है आदि, पर ये स्वार्थीजन ही इसको प्रशंसाके रूपमें लेते हैं। मोह टूट जानेमें कोई हानि नहीं है। मोहरहित होकर घरमें रहनेमें शान्तिका उदय है। मोह और रागमें अन्तर है। घरमें रहते हुए राग न करे यह बात न बन सकेगी। अगर राग नहीं कर रहा है तो वह घरमें रह नहीं सकता है। मोह और रागमें यह अन्तर है कि मोहमें तो भरा है अज्ञान; जैसे यही लोग मेरे लिए सर्वस्व है, इनके बिना मेरी जिन्दगी नहीं, इनको छोड़कर अन्य कोई मेरे लिए शरण नहीं। मेरा सर्वस्व प्राण ये ही है। मोहमें अपने आपके स्वरूपकी सुध नहीं रहती, पर राग रहते हुए भी अपने स्वरूपकी सुध रह सकती है, यदि मोह न हो। घरमें है, संहनन भी वैसा नहीं है, परिस्थिति ऐसी नहीं कि हम सर्वका परित्याग कर दें, रहना पड़ता है तो राग तो करना ही होगा, धनार्जन भी करना होगा, सबकी खबर लेना ही होगा, लेकिन उसको मोह नहीं है। उसे सत्य ज्ञान है कि ये जीव उतने ही जुदे हैं जितने कि जगतके अन्य जीव जुदे हैं, यह देह भी मेरा मेरेसे ऐसा जुदा है जैसा कि अनेक पुरुषोंको मरणके बाद देखा भी है कि देह उनका वही पड़ा रह गया, बिछुड़ गया, जीव निकल गया, ये सब उदाहरण उसके सामन रहते हैं, तो उसके मोह नहीं रहता। मोह और रागमें अन्तर है। मोह और रागका अन्तर इस तरह भी जान सकते हैं कि जैसे कोई सेठ रोगी हो जाये तो उसके लिए घरमें आरामके बड़े साधन बढ़ा दिये जाते हैं, अच्छा कमरा, अच्छा पलंग, दो-चार नौकर, समयपर डॉक्टर लोग दवा भी देते, दवा देनेमें जरा देर हो गई तो वह सेठ झुंझला भी जाता है, तो देखिये उसे सेठको उस औषधिमें राग है, पर मोह नहीं है। मोहके मायने अंधेरा, वह रोगी सेठ नहीं चाहता कि मुझे आज जो आराम मिल रहा है वैसा आराम जिन्दगी भर मिले। यद्यपि उस सेठको उस औषधिसे राग है फिर भी उसके चित्तमें यह बात बसी हुई है कि कब यह औषधि छूटे औरमें दो-चार मील दौड़ प्रतिदिन लगा सकूँ। तो ऐसे ही समझिये कि हम आप गृहस्थीके अन्दर रहकर भी ऐसा विवेक बना सकते हैं कि वहाँ राग तो रहेपर मोह न रहे। तो देखिये भीतरकी बात अपनी समझसे, अपने ज्ञानसे अपने आपमें घटित करके यदि एक इस अंधेरेको दूर कर दिया जाये तो घर वही है, परिजन वहीं है पर खुदका जीवन उजेलेमें आएगा। और, एक मोह न हटा तो जीवन उजेलेमें न रहा, जीवन अंधकार है, शान्तिका रास्ता नहीं पाया जा सकता।

ज्ञानोद्यमनकी अपूर्वता—जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके बाह्यपदार्थोंकी परिणतिमें कुछ उलझन नहीं। बाह्यमें जो कुछ होता है उसे ज्ञातादृष्टा रहते हैं। धन कम हुआ तो क्या है, न कोई बाह्य पदार्थ मेरा कुछ था, न है, न होगा, उसके प्रति क्या दुःखी होना? कोई इष्ट वियोग हो गया तो क्या है? जगतमें तो यह बात होती ही रहती है, जिसके आयुका क्षय जब होना था हो गया, उसके पीछे क्या दुःखी होना? यों ज्ञानी पुरुष बाह्य परिणतियोंसे अपनी कुछ हानि नहीं समझते हैं। बस यही फर्क रहता है निर्मोही और मोही गृहस्थमें। यदि तत्त्वज्ञान जगाकर एक इस मोहको दूर कर लिया जाये ता समझिये कि मैंने अपने जीवनमें सब कुछ पा लिया। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि देखो

तो अपने स्वरूपको यह उत्तम गुणोंका घर है। सर्वद्रव्योंमें उत्तम है, तत्वोंमें यह परम तत्व है, एक अपने स्वरूपको निहारकर अपने आपमें वह घटित करता है कि मेरे लिए मैं ही सब कुछ हूँ, मेरी ही करतूत मुझे सुख दुःख देती है। जैसा मेरा ज्ञान होगा उसी प्रकारका मेरा भविष्य बनेगा। इस बन्धनसे मुक्त करनेके लिए भी कोई दूसरा न आयेगा, खुदको ही करना होगा। तो आपने आप पर कुछ दया करके इस जन्म-मरणसे छुटकारा प्राप्त करनेका उपाय प्राप्त हो, ऐसा मनमें निर्णय करना और उसके अनुसार चलना, भगवानकी भक्ति करके, स्वाध्याय करके अपने आपको अकेला अनुभव करना है, जिस किसी भी प्रकारसे परका विकल्प छूटकर एक बार भी ज्ञानस्वरूपका अनुभव पा लेना यही अपने जीवनका एक प्रधान उद्यम होना चाहिए।

अंतरतच्चं जीवो वाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।

गाणविहीणं द्रव्यं हियाहियं णेव जाणादि ॥ २०५ ॥

सर्व पदार्थोंमें अन्तस्तत्त्व व बाह्यतत्त्वका विभाग और उसके हित दर्शन—जगतमें जितने भी सब कुछ पदार्थ हैं इन सबका दो हिस्सोंमें विभाग करना, अंतस्तत्त्व और बाह्यतत्त्व। अंतस्तत्त्व तो यह आत्मा है, जीव है और बाह्यतत्त्वमें सर्व पदार्थ आ जाते हैं, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल, और इनमें भी विशेष भीतरी दृष्टि करके देखें तो मेरे लिए मेरा अन्तस्तत्त्व मेरा आत्मा है और मेरेको छोड़कर बाकी सर्व जीव और समस्त पुद्गल आदिक पदार्थ ये सब बाह्यतत्त्व हैं। अन्तस्तत्त्वके मायने भीतरीस्वरूप और बाह्यतत्त्वके मायने बाहरी स्वरूप। दो भागोंमें सर्व कुछ विभक्त हो गया (१) मैं और (२) मेरेसे अतिरिक्त सर्वपदार्थ अथवा (१) जीव और (२) जीवके अलावा अन्य सर्व पदार्थ। तो इसमें जीव तो है ज्ञानस्वरूप। वह तो हित और अहितको जानता है और जीवको छोड़कर बाकी पदार्थ हित और अहित नहीं जानते। यदि सर्व द्रव्योंके स्वरूपपर दृष्टि दें तो जीव सर्व द्रव्योंमें श्रेष्ठ, उत्तम जाना जाता है। अथवा कहो कि यह जीव ही राजा है, बाकी पुद्गल आदिक जो कुछ ढेर पड़े हुए हैं सो ये ज्योंके त्यों पड़ें है। इनमें ज्ञान नहीं है, व्यवस्था मादा नहीं है। जीव है ऐसा कि जिसमें ज्ञानस्वरूप है और सर्वपदार्थोंको जानता है, हित अहितको जानता है।

वर्तमान साधनकी कल्याणका उपाय बनानेके लिए अनुकूलता—अब इस समयका मौका अगर सही दृष्टिसे देखो तो अपने आपको कितना सुन्दर मिला हुआ है। अगर चाहें तो सदाके लिए इन संकटोंको मेट ले। और न चाहें तो बाहरी बातोंमें फंसकर अपना रागद्वेष मोहमें जीव बितायें और जैसे अन्य भव पाये वैसे ही यह भी भव बीत लेगा। अपने आत्मका उद्धार करनेके लिए यहाँ बहुत बड़ी तैयारी करनी होगी, हिम्मत बनानी होगी और हिम्मत भी क्या? जब सर्व चीजें अपनेसे निराली है तो दृढ़तासे निराला समझ लें। कुछ कुछ जब समझमें आता है कि घर परिवार भी क्या, धन वैभव भी क्या? सब कुछ परवस्तु है, और यह सब पुण्य पापका संयोग है, औरकी तो बात क्या? यह मेरा देह भी मेरा साथी नहीं है, यह भी मेरे लिए निःसार है, यह सर्व रोगोंका घर है, सारी चिन्ताओंका यह साधन है। जब यह देह लगा है, हमारा आकार बना है, नाक कान आदिक रचनायें हैं तो एक आधार मिल गया ना यहाँ ही रमनेका। यह ही मैं हूँ और मुझको सब लोग जानते हैं। जो नहीं जानते थे वे भी मुझको जान जायें ऐसी भीतरमें आकांक्षा जगती है, और है कोई नहीं समझने वाला, किसीसे कोई संबंध नहीं। जैसे भाव करता है उसके अनुसार फल इस अकेलेको ही भोगना पड़ता है, बाहरी जो ठाठ हैं, जो घरमें जीव बस गए हैं वे सबके सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, तत्व निरखें और अपने आपमें जो सहज स्वरूप है। ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि करें तो केवल ऐसा अनुभव जगेगा कि जो इस कर्मबन्धनको तोड़ देगा। हम मात्र बाहरी चेष्टाओंसे

ये कर्म नहीं टूटते। इन कर्मोंके फलसे जब वैराग्य जगेगा और अपने आपके सहजस्वरूपमें अपना ज्ञान जगेगा तो उस अलौकिक अनुभूतिसे कर्म कटते हैं।

धर्मपालनकी कर्मविच्छेदन प्रयोजकता कर्मोंके काटनेके लिए हमने ये साधन जुटाये हैं कि भाई रोज देवदर्शन करें। यहाँ आकर गुणस्मरण करें, अपने आपकी सुध भी होगी तो सीखना है यहाँ भेदविज्ञान। मैं सबसे निराला हूँ, देहसे भी निराला हूँ, यह ज्ञान सीखना है मंदिरमें पूजा जाये, दर्शनमें, धर्मके प्रसंगमें, यह अनुभव करना है, यह अभ्यास बनाना है कि देह जड़ है, नष्ट होगा, जला दिया जायेगा, यह दुर्गन्धित है, सारहीन है। मैं आत्मा एक चैतन्य भावरूप हूँ, पवित्र हूँ ऐसा यह मैं ज्ञानपुञ्ज आत्मा इन सब समागमोंसे निराला हूँ। मेरी कहीं भी हानि नहीं, कहीं अरक्षा नहीं। जब तक राग है तब तक अरक्षाका दिमाग बनता है। जब ज्ञान ज्ञानमें आ जाये, ज्ञानका सही स्वरूप समझ ले तो यह अनुभव करेगा कि मेरा कोई विनाश कर सकने वाला ही नहीं है। मेरा जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें कोई बाधा डाल सकने वाला ही नहीं है। अपनेको निराकुल अनुभव करें। पर यहाँ भीतरकी दृष्टि नहीं रहती है तो बाहरके उपयोगमें तो विडम्बना ही है। हम भगवानकी मुद्राको निरखकर उसकी उपासना करते हैं तो मुद्रामें हम सीखे क्या? इनका ठाठ हमसे हजारों गुना था, तीर्थकर थे, चक्रचर्ता थे, करोड़ों गुना ठाठ था, पर वह ठाठ, वह सारा समागम उनकी शान्का कारण न बना, उसका उसार जानकर सर्व कुछ त्यागकर सारभूत अपने आत्माके ध्यानमें लग गए। मुद्रा भी देख लो, पैरमें पैर फंसाकर बैठे हैं। जो आसन हमें दिखाता है अब हमें कहीं जानेका काम ही नहीं है। हाथपर हाथ धरे बैठे हैं, प्रभु जो हमें दिखाता है कि जगतमें अन्य कुछ कर्तव्य ही करने लायक नहीं है। श्रेष्ठतम कर्तव्य तो एक आत्मसाधना है।

ज्ञानसाधनारुचिकी परमवैभवता जिन जीवोंको इस आत्मज्ञानकी साधनामें रुचि जगी है वे चाहे दरिद्र भी हों फिर भी वे अपनेमें तृप्त रहते, संतुष्ट रहते और अपनेको अमीर अनुभव करते हैं। दर्शनमें पढ़ते हैं कि इस जिन धर्मको छोड़कर मैं चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता और जिन धर्मसे वासित होकर मैं किसीका नौकर रहा जाऊँ, दरिद्र भी रहा आऊँ यह हमें मंजूर है। इस बातको, इस भावको परखें कि मेरा ज्ञानस्वरूप आत्म मेरे ज्ञानमें रहे और फिर मैं चाहे दरिद्र भी रहूँ, किसीका सेवक भी रहूँ तो वह भली बात है क्योंकि एक ज्ञानस्वरूप आत्माका दर्शन तो बनता रहता है और एक अपने आत्माकी सुध न हो सके मिथ्यात्वमय, हिंसामय, नीचकुलमें जन्म हो और वहाँ वे भी झगड़ेके विकल्प निरन्तर रहा करें और वहाँ चाहें श्रीमान बन जायें, लखपति बन जायें तो भी वहाँ सार कुछ नहीं है। जब जैसा जो मिलेगा वह सब छोड़कर जाना है। चाहे कोई धनिक हो अथवा कोई साधारण स्थितिका हो, छोड़कर जानेमें समानता है। सब कुछ छोड़कर यहाँसे जाना होगा। जब यहाँसे छोड़कर जाने वालेको आगे किस प्रकार क्या बीतेगा, यह तो उसके किए हुए कर्मोंपर निर्भर है। एक जन्ममें किसी तरह दुनियाको अपना पोजीशन बता दिया, दुनियाको कुछ भी दिखा दिया, तो उससे दुनिया हमारी साथी न बन जायेगी, वे सभी स्वार्थनिरत है। स्वरूप भी ऐसा ही है कोई किसी दूसरेका क्या करेगा? तो यहाँ दूसरेके लिए हमें क्या करना? स्वयंके लिए ही कुछ करना है।

स्वयं ही स्वयंपर बिछाई हुई आपत्तिके न होनेपर सुविधाका सौगम्य आज यदि समाजमें एक दहेज प्रथाकी आपत्ति न होती तो जैनदर्शनका पाने वाला यह समाज चाहे किसी भी परिस्थितिमें होता सुखी रहता। दरिद्रता हो तो कोई दुःखकी चीज नहीं, अथवा अपनी इज्जत न हो तो यह भी कोई दुःखकी चीज नहीं। कितनी बड़ी यह दुनिया है, उसमें थोड़े क्षेत्रका हमारा निवास है, अनादि अनन्त समय है, उसमें ये १००-५० वर्ष क्या

कीमत रखते हैं? जो हो सो हो, सर्व बातोंको सहन कर सकते हैं, पर विवेक हो तब ना,पर एक खुद ही खुदकी समाजने जो एक आपत्ति बिछा दी है इससे परेशानी है। अन्य बातोंमें हम आप अपने मनको बहुत संभाल सकते हैं, जो भी स्थितियाँ आये उनमें गुजारा कर सकते हैं। कर्त्तव्य तो धनिक बननेका नहीं है जीवनमें। आखिर सब कुछ यहाँसे छोड़ कर जाना होगा। इज्जतवान, पोजीशनवान बनना भी हमारा कर्त्तव्य नहीं है जीवनमें, पोजीशन बनाकर मिलेगा क्या, आखिर सब कुछ छोड़कर जाना होगा बस अपने आत्मस्वरूपका अनुभव हो जाये यही काम जीवनमें करनेका है। यह काम नियमके आगे बहुत बड़ी मदद देगा। बाकी और काम हमारा कुछ भी साथ न देंगे, बल्कि दुःखके ही साधन बन रहे हैं।

अपनी अविनश्वरता व भावोंपर निर्भरता जानकर आत्मकरुणामें भलाई—हम जीव हैं, हम अपनेको मिटा कहाँ सकते हैं? अनादिसे हैं, अनन्त काल तक रहेंगे, इस मुझका कभी विनाश हो नहीं सकता, तब यह किसी न किसी हालतमें रहेगा। जैसे मैं आज इस मनुष्यकी पर्यायमें हूँ और जो परिस्थितियाँ बना रखी हैं उन परिस्थितियोंमें हूँ तो आगे भी किसी न किसी हालतमें रहूँगा। यदि यह अपने स्वरूपका ज्ञान कर लेता है, एक बार अनुभव कर लेता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूँ, मुझसे केवल मैं ही हूँ, अखण्ड हूँ, सदा सुरक्षित हूँ, अविनाशी सत् हूँ। किसी दूसरेसे इसका रंच भी सम्बन्ध नहीं है। केवल ज्ञानमात्र, अपनी सत्तामात्र अपनेको अनुभव कर लिया जाये तो उससे बढ़कर इस जगतमें कोई अमीर है क्या? ये व्यर्थकी बुद्धियाँ जरा जरासे राग मोहमें हम बहुत बड़ी समस्यायें मान करके हम अपने जीवनमें चिंतित हो जाते हैं। साहस यह बनाना चाहिए कि ये तो कोई समस्यायें ही नहीं हैं। अपने घरके स्त्री पुत्रादिको धर्मकी ये बातें सिखा देना चाहिए कि सब कुछ निराला है, किसी भी बातमें भय, चिन्ता न रखना चाहिए। अपने स्वरूपको देखो उसमें बड़ा वैभव भरा है, अपने स्वरूपके ध्यानके प्रतापसे अरहंत हुए हैं, सिद्ध हुए हैं, जिनकी हम आप रोज उपासना करते हैं। बाहरमें कहीं कुछ नहीं रखा है। अपना सब कुछ अपने अन्दर ही पड़ा हुआ है, उसकी धुन बनायें, उसके लिए प्रेमी बने, यह बात यदि घरमें सबको सिखा दें तब संकट क्या रहा? घरमें सभी धर्मप्रेमी हो गये, अब बाहरी संकोच भी नहीं रहा। जो स्थितियाँ हैं वे सब झेली जा सकती हैं। स्वयं सीख लो अपने आपके ज्ञानमें ही शान्तिका मार्ग मिलेगा, बाहरी पदार्थोंके सुधार बिगाड़में शान्ति नहीं मिल सकती।

ज्ञानमय जीवद्रव्यमें हिताहित जाननेकी वृत्ति—मैं हूँ, ज्ञानमय हूँ, अंतस्तत्व हूँ, जाननहार हूँ, हित अहितका अविवेक कर सकता हूँ,पर ज्ञानरहित जो बाहरी यह सारा विश्व है यह हित अहित नहीं जानता। आश्चर्यकी बात यह है कि स्वयं प्रभु होकर, स्वयं एक उत्तम द्रव्य होकर, एक ज्ञानमय पदार्थ होकर इन जड़ असार पदार्थोंमें यह जीव रमना चाहता है और इनमें ही यह संतुष्ट रहना चाहता है, जो कभी भी सम्भव नहीं है, बस यह वृत्ति चल रही है। भगवत्भक्ति यथार्थ ढंगसे की जाये तो यह सब ज्ञानप्रकाश सामने आता है। तो यह ज्ञान, यह अंतस्तत्व, यह जीव, इसके लिए यही सर्व कुछ है, इस कारण सर्व द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य जीवद्रव्य है, सर्व उत्तम गुणोंका घर यह जीव है, तत्वोंमें परमतत्व यह जीव है, उसका आदर करें। बाहरी पदार्थोंका आदर जो चित्तमें समाया हुआ है यह विषपान है, इसमें निरन्तर जलन है, आकुलता है। और, अपने आपके ज्ञानस्वरूपपर जो अपना उपयोग जाये, दृष्टि जाये, अपनेको पहिचानें कि मैं सिर्फ ज्ञानमय हूँ, ज्ञानके सिवाय अन्य कोई मेरे रूप नहीं है। मैं हर जगह इस ज्ञानको ही करता हूँ, इस ज्ञानको ही भोगता हूँ। यह तो उपचार कथन है कि मैं घरको करता हूँ, कुटुम्बका पालन करता हूँ आदि। मैं तो सदा ही अपने विकल्पोंको ही किया करता हूँ। अब दूसरे जीवोंका

पुण्यका उदय है तो आप निमित्त होंगे, धनार्जन होगा, उनकी सेवा बनेगी तो आप यदि धनार्जन करते हैं तो समझो कि आप तो उन पुण्यवंतोंके नौकर बने हुए हैं। आपको तो रात-दिन जुटना पड़ता है और घरके लोग आरामसे उस धनका उपभोग करते हैं तो तुम व्यर्थ ही विकल्प करते हो कि मैं परिवारका पालन-पोषण करता हूँ। आप तो अपने ज्ञानको ही करते हो, ज्ञानको ही भोगते हो। ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ नहीं करते। एक ऐसी अन्तःदृष्टि तो बनाओ।

भगवत्प्रज्ञप्त रत्नत्रयमार्गसे ही परमशान्तिकी संभवता शान्तिका उपाय दुनियाके सभी लोग सभी प्रकारसे बताते हैं और यह भी उनका कहना बहुत अंशोंमें ठीक है कि सबसे पहिले तो घर-गृहस्थीके व्यापार, भोजनपान आदिकका सामर्थ्य होना चाहिए। तो ठीक है, पर पुण्यकर्मके उदयसे जब हम मनुष्य हुए हैं तो हमारा उदय इतना अवश्य है कि इतने साधन मिलते रहेंगे, पर मुख्य काम तो ऐसा मार्ग ढूँढ लेनेका है कि जिससे नियमसे शान्ति ही प्राप्त हो, वहाँ कोई दूसरी ही बात नहीं, वह मार्ग है जिनेन्द्र देवके द्वारा बताया गया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप। जब इन बाहरी विकल्पोंको त्यागकर हम इस ओर आते हैं कि प्रभुने जो उपदेश दिया है और जिन प्रभुको हम आपने पूज्य माना है तो प्रभुके उपदेशमें बल अवश्य है, सार अवश्य है, और यही सारभूत काम आता है कि हम सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त करें। अपनेको जानें मानें और अपनेमें रम जायें। ज्ञानी पुरुष बड़ा साहसी पुरुष होता है। जब धनंजय सेठ भगवानकी पूजा कर रहे थे और उसी समय धनंजयके बच्चेको साँपने डस लिया तो बच्चेकी माँने सेठके पास खबर भिजाया कि बच्चेको सर्पने डस लिया है, लेकिन वह प्रभुभक्तिमें इतना मग्न थे कि कुछ भी न सुना, दुबारा फिर खबर भिजाया पर धनंजयने अनसुनी कर दी। तो गुस्सेमें आकर धनंजयकी स्त्रीने उस अधमरे बच्चेको मंदिरमें पहुंचा दिया और यह कहकर कि बच्चा मरे चाहे जाए, तुम जानो, छोड़कर चली गई। आखिर धनंजय सेठ प्रभुभक्तिमें लीन रहे। आखिर उपयोग ही तो है। वहीं स्तवन भी रच डाला, और उसकी भक्तिका ऐसा माहात्म्य हुआ कि वह बच्चा स्वयं निर्विष हो गया और खड़ा हो गया। तो यह बात तो पुण्योदयकी है, अलग बात है लेकिन ज्ञानीकी धुन तो देखिये कितना महान साहस है कि कोई भय नहीं, कोई घबराहट नहीं, कोई विकल्प नहीं, और एक अपने ज्ञानमार्गमें ही लगा हुआ है तो साहस बिना इस जीवका कोई साथी नहीं हो सकता है। यहाँ कौन मददगार है? हमारा ज्ञानविवेक भीतरी साहस यही हमारा साथी बनेगा, दूसरा कोई हमारा साथी नहीं। पवित्र भाव रखें।

हितार्थीका एकमात्र कर्त्तव्य एक दृष्टिसे निहारनेपर विदित होगा कि जो होना है वह होकर रहेगा। अवधिज्ञानीने, प्रभुने जो जान रखा है, हम जानते नहीं है, होगा विधिविधानपूर्वक, मगर होनेको कौन रोकेगा? होकर रहेगा। तब हम उसके करने वाले क्या? जिस जीवका जैसा उदय है उसके अनुसार उसे सर्व सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। मैं कुछ भी करने वाला नहीं हूँ। मेरा तो वह स्वरूप है जैसा कि प्रभुका है। जैसे प्रभुमें ज्ञानदर्शन आनन्द प्रकट है वैसे ही ज्ञान, दर्शन, आनन्द मुझमें शक्तिरूप है। जाति एक है, आत्मा ही तो प्रभु है, आत्मा ही हम हैं। जो स्वरूप प्रभुका है वही मेरा है। पर अन्तर यह हो गया कि प्रभुने तो ज्ञान वैराग्यका उपाय बनाकर कर्मका नाश किया, प्रभुता पायी और यहाँ हम ज्ञान वैराग्यका सहारा नहीं ले रहे, इसी कारण जन्म-मरण करते हैं। आज मनुष्य हैं तो इतना ख्याल है, इतना परिचय है, कुछ विचार भी है और मनुष्य न रहे, मरकर पशु-पक्षी, कीट-पतंगा आदि हो गए तब तो समझिये कि हम क्या करें? यह जीव जैसी स्थितिमें है उस ही में यह बड़ा दुःख मानता है, मगर इससे भी करोड़ों गुना दुःखमयी स्थितियाँ हैं अनेक भवोंमें। जीव तो भैंसा, बैल आदिक भी हैं जो कि गाड़ीमें जोते

जाते हैं, चलते नहीं बनता फिर भी पिटते जाते हैं। उनको पूछने वाला यहाँ कौन है? जीव हम भी हैं, जीव जाति तो समान है। हम आज अच्छी स्थितिमें आकर भी अपनेको दुःखमय अनुभव करते हैं। कोई भी हो बड़ेसे बड़े, करोड़पति भी यही अनुभव करते हैं कि अभी मेरी ऊँची स्थिति नहीं है इस कारण वे आकुलता मानते हैं पर उससे और नीची स्थिति हो किसीकी तो क्या उसका जीवन नहीं चलता है तो अनेक दुःखमय स्थितियों हैं जगत में। यहाँके समागमोंसे सुखकी आशा करना व्यर्थ है, शान्तिकी आशा करें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे करें। मैं अपने स्वरूपको जान लूँ, पहिचान लूँ, वहीं रमकर रह जाऊँ, ऐसी धुन, ऐसा विचार, ऐसा यत्न बनायें, इस ओर लक्ष्य दें कि करने योग्य काम केवल एक ही है, बाकी सब काम असार हैं। कुछ भी काम कर डालो उससे आप यह अनुभव न कर पायेंगे कि जो कुछ हमें करना था वह सब कर चुके। किसी बाहरी दशामें बढ़कर देख लो। आपको यह संतोष न होगा कि जो कुछ मुझे करना था सब कर चुके, अब कुछ नहीं करना है, लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें बहुत संतोष पायेंगे। समझो कि जो कुछ हमें करना था वह सब कर लिया। अब मुझे कुछ करनेको बाकी नहीं है। तो इस अपने निरपेक्ष सहज ज्ञानमय स्वरूपको समझे और उसमें ही मग्न होकर रहकर अपना कल्याण करें।

सव्वो लोयायासो पुग्गल-दव्वेहि सत्वदो भरिदो।

सुहुमेहिं वायरेहिं य गाणा-विह-सत्ति-जुत्तेहिं ॥ २०६ ॥

जीव और पुद्गलके परिचयकी सुगमता—इस लोकमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब ६ जातिके हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन ६ जातिके पदार्थोंमेंसे दो जातिके पदार्थोंका तो खूब परिचय है जीव और पुद्गल। जीव खुद है सो अपने बारेमें अपना बोध रहता है कि मैं हूँ सुख-दुःख सभी कुछ इसपर आया करते हैं। उन्हें यह झेलता है, विचार करता है, कभी दुःखी होता है, कभी मौज मनाता है, कभी शान्तिका उपाय भी बनता है तो अपने आपके स्वरूपकी याद होनेसे इस जीवको तो मानता है कि दुनियामें जीव है। और, पुद्गल ये सब चूँकि दिखाई देते हैं, इनको कैसे मना करेंगे? जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श हों वे सब पुद्गल हैं, तो पुद्गलको भी जल्दी ध्यानमें लाया जा सकता है। अब चार द्रव्य जो ओर हैं धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इनकी बात कठिनाईसे समझमें आती है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्यका स्वरूप—धर्मद्रव्य इस सारे लोकमें फैला हुआ है जो आँखों नहीं दिखता, पर जिसके होनेसे हम आप और पुद्गल ये गमन कर जाते हैं जो हम आपके चलनेमें मददगार है। लेकिन धर्मद्रव्य है। आँखों नहीं दिखता इस कारण उस विषयमें जिज्ञासा रहती है कि कहाँ है धर्मद्रव्य, लेकिन धर्मद्रव्य न होता तो हम आप हाथ-पैर भी न हिला सकते थे। कोई चीज है ऐसी, जैसे कुछ बताते हैं कि बाहरी कोई विशिष्ट वातावरण होता है वहाँ गमन होता है, न हो तो गमन नहीं होता, उससे भी सूक्ष्म चीज धर्मद्रव्य है। जो ऋषी संतोंने बताया है, आधुनिक वैज्ञानिक लोग वहाँ तक नहीं पहुँचे हैं, और यह सारा एक ही पदार्थ है, इसी तरह एक अधर्मद्रव्य है जो सारे लोकमें भरा हुआ है। अधर्मद्रव्य चलते हुए जीव पुद्गलको ठहरानेमें सहायक हैं यद्यपि ये पदार्थ जबरदस्ती किसीको चलाते, ठहराते नहीं हैं मगर जब चलें या ठहरें तो ये सहायक होते हैं। जैसे मछलीके चलनेमें जल सहायक है। पर जब मछलीको जबरदस्ती चलाता नहीं है, हाँ अगर मछली चलना चाहती है तो उसके चलनेमें वह जल सहायक बन जाता है। इसी प्रकार गर्मीके दिनोंमें वृक्षकी छाया मुसाफिरको जबरदस्ती ठहराती नहीं है, किन्तु मुसाफिर ही स्वयं यदि छायामें ठहरना चाहता है तो वह वृक्ष उसके ठहरानेमें सहायक बन

जाता है। तो ऐसे ही धर्म और अधर्मद्रव्य चलने और ठहरनेमें सहायक हैं। ये बहुत सूक्ष्म द्रव्य है। इन दो द्रव्योंका पता सुगमतया नहीं लगता। एक आकाशद्रव्य भी है। आकाश आकाश तो सभी लोग कहते हैं, यह जो पोल है, आसमान है, यह आकाश है, लेकिन आकाश कोई अवस्तु नहीं है। कुछ भी न हो, केवल अभावका नाम आकाश नहीं है किन्तु वह एक द्रव्य है, अनन्तप्रदेशी है। और, यहाँ हर एक क्षेत्रमें हर एक छोटी-छोटी जगहपर एक एक कालद्रव्य पड़ा है, जिसके निमित्तसे वहाँकी चीजें बदलती रहती हैं। तो ये सब सूक्ष्म द्रव्य हैं।

जीव और पुद्गलमें विवेक भेदविज्ञान करनेकी आवश्यकता—खैर इनको अभी न विचार कर एक जीव और पुद्गलके बारेमें ही विचार करें। इनका विचार करना यों आवश्यक है कि यह जीव जितना परेशान है केवल मोह और रागद्वेषसे परेशान है। जिनको सच्चा ज्ञान मिला वे योगी हुए, कर्मोंको काटकर अरहंत सिद्ध हुए, जिनकी हम आप उपासना करते हैं उन्होंने कोई उत्तम काम ही तो किया होगा। जो यहाँ संसारी मोही जीव घरमें रहकर घरकी व्यवस्था बना कर और कुछ कल्पित बढ़िया योग बनाकर ऐसा मौज मानते हैं कि मैंने करने योग्य सब कुछ कर लिया, हम बड़े वैभववान हैं, मगर छह खण्डकी विभूतिको त्यागकर चक्रवर्ती, तीर्थंकर दिगम्बर होकर अपने आपमें आत्माका ध्यान करके ही उन्होंने आनन्द समझा। तो जो बात सत्य है वह दृष्टिमें आ जाये तो समझ लीजिये कि हमारा यह मनुष्यभव पाना सफल है, हम कितना कर सकते या नहीं कर सकते, यह तो हमारी परिस्थितिपर निर्भर है लेकिन सही बातके जाननेमें प्रमाद क्यों किया जा रहा है? यह बात सत्य है कि नहीं कि मैं जीव इस जगत्में सर्व बाहर पदार्थोंसे निराला हूँ, मैं अपने स्वरूपसे बना रहता हूँ, ये बाहरी पदार्थ सब अपने स्वरूपसे बने रहते हैं, ये मेरेसे अत्यन्त पृथक् हैं। इतनी बात ज्ञानमें आ जाये तो इसमें कौनसी कठिनाई है? सही बात जान लेनेपर सम्यग्दर्शनकी तैयारी होती है।

स्वजीवका अन्य जीवोंसे भेदका परिचय—जीवके बारेमें भी विचारें। मैं भी एक जीव हूँ और मुझे जीवको छोड़कर बाकी जो जीव हैं वे सब पूरेके पूरे स्वयं अन्य अन्य द्रव्य हैं। उनका सब कुछ उनमें है, उनसे कुछ भी मेरेमें नहीं आता। अब तक देख लो जिन्दगीमें जिन जिनसे प्रीतिकी, उनसे कुछ भी आपमें नहीं आया। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सब कुछ उनमें ही है। उनके वियोग होनेपर पता पड़ता है कि वह सब प्रीति तो एक भ्रमका खेल था। जिन बाबा-दादोंकी हमपर बड़ी प्रीति थी वे भी कहाँ रह सके। और, उनके समयमें भी वे मेरा कुछ न करते थे और मैं उनका कुछ न करता था, सबका अपना अपना अलग-अलग भाग्य है। जो कुछ इष्ट अनिष्ट चीजें मिलती हैं वे सब सुकृत कर्मका फल है और इस कर्मफलमें क्या अधिक बुद्धि लगाना? ये उदयानुसार जैसे आना है आते हैं। प्राप्त सुविधामें ही अपनेको सन्तुष्ट रखें और उसमें ही अपनी व्यवस्था बनालें। विवेक तो यह है कि हम हर स्थितिमें अपनी व्यवस्था बनाते हुए धर्मका पालन करते रहें। आज हम मनुष्यभवमें हैं, कुछ ही समय इस पर्यायमें और रहना है, निकट ही समय है जब कि यहाँसे विदा होना होगा। फिर यहाँके कोई भी समागम मेरे काम न आयेंगे। फिर इन समागमोंमें क्या मोह करना? तो बाहरी पदार्थोंका यथार्थस्वरूप जाननेसे ये सब बातें स्पष्टतया विदित हो जाती है। मैं जीव हूँ, मेरेको छोड़कर अन्य जितने भी जीव हैं और पुद्गल हैं वे सब मुझसे अत्यन्त निराले हैं, मेरा सब कुछ मेरेमें ही बना करता है, मेरा निर्माण मुझमें है, मेरा भविष्य मुझपर निर्भर है, ऐसा मैं सबसे निराला स्वतंत्र पदार्थ हूँ, यह बोध होवे तो इस जीवका ऐसा अच्छा संस्कार बनता है कि इसको जब तक संसारमें रहना है तब तक अच्छी गति मिलती जायेगी, और कभी ऐसा उपाय बना लेगा कि इसके जन्म-मरण सब समाप्त हो जायेंगे। तो ये सब पहिचान करनेके लिए हमें जानना है कि मैं क्या हूँ और बाकी सब कुछ क्या है?

लोककी पुद्गलद्रव्योंसे पूरितता—इस गाथामें पुद्गलद्रव्यका वर्णन है। यह जितना लोकाकाश है वह पुद्गलद्रव्योंसे ठसाठस भरा है। जहाँ हम पोल समझते हैं वहाँ भी ये पुद्गल द्रव्य भरे पड़े हैं, और वे इतने सूक्ष्म हैं कि हमारे हाथसे छिड़ते नहीं और हमें पोल मालूम होती है। प्रथम तो यही बात देखिये कि लोकाकाशमें सभी जगह ठसाठस जीव भरे पड़े हैं। जहाँ हम पोल समझते हैं वहाँ भी अनन्त जीव हैं, मगर वे सूक्ष्म जीव हैं, वे अपनी मौतसे मरते हैं। जन्म लेते हैं सुखी-दुःखी होते हैं। उन्हें आग भी नहीं जलाता, पानी भी उनको गीला नहीं करता, सूक्ष्म शरीर है उनका, जिन्हें कहते हैं सूक्ष्म निगोद जीव। और, संसारमें एक जीवके साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें लगी हैं। अब समझिये कि कितने पुद्गल द्रव्य भरे पड़े हैं। तो पुद्गलद्रव्यसे यह सारा लोक भरा है। इस जीवको मोहकी आदत, और पुद्गलद्रव्य सभी जगह भरे पड़े हैं। तो जहाँ भी यह जीव जन्म ले लेता है वहाँ ही इसे पुद्गलोंका ढेर मिल जाता है। और उन पुद्गलोंके ढेरमें मोह करके यह जीव कर्मोंका विकट बन्धन कर लेता है और संसारमें जन्म-मरणकी विकट यातनायें सहन करता है।

किसी भी परद्रव्यको उपयोगमें न लेकर किसी क्षण निर्विकल्प अनुभूति पानेका अनुरोध—भैया! साहस बनाकर किसी भी क्षण ऐसा अपना चित्त बना लें कि मुझे किसी भी परपदार्थको अपने चित्तमें नहीं बसाना है, इन परपदार्थोंके संयोगसे अनेक दुःख भोगे, अनेक सहे, आपत्तियाँ सहीं, उनसे चित्त बसानेसे अभी तक लाभ कुछ नहीं मिला। इसलिए कुछ क्षण लिए मुझे किसी भी परपदार्थको अपने चित्तमें नहीं बसाना है। और उस समय जो भी बात चित्तमें आये उसीका झट विचार करने लगें कि यह चीज भी मेरा साथ न निभायेगी, इसमें दृष्टि होनेसे हमें आकुलता ही मिलेगी। तब एक बार किसी समय भी अपने आपपर दया करके अपना चित्त ऐसा तो बना लें कि जब यहाँ मेरा कहीं कुछ भी नहीं है तो किसी भी वस्तुको मैं अपने चित्तमें स्थान न दूंगा, यह बात तुरन्त न बन पायेगी, इसके लिए रोज रोज बड़ा अभ्यास करना होगा। हम आप रोज जो सामायिक पाठ करते हैं, प्रभुके नामका १०८ बार जाप जपते हैं, उसका भी प्रयोजन यही है कि अपने चित्तको वहाँपर हम ऐसा बनावें कि किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें न ठहरने दें। ऐसी अवस्थापर हम ऐसा बनावें कि किसी भी परपदार्थको अपने उपयोगमें न ठहरने दें। ऐसी अवस्था कभी क्षणभरको बन पायेगी। उस एक क्षणकी झलक आपको एक अद्भुत आनन्द देगी और उसी समय अनेकों भवोंके बाँधे हुए कर्म कट जायेंगे। यह है वास्तविक धर्मपालन। ऐसा उपाय बनालें यही हम आपका सही मददगार है। बाकी तो सब मायाजाल है। यहाँके ये सब समागम कुछ दिनोंके लिए मिलते हैं और बिछुड़ते हैं। इन समस्त पदार्थोंसे अपनेको निराला सोचना है। एतदर्थ उन पदार्थोंकी जानकारी तो करें कि ये बाहरी पदार्थ जो भरे पड़े हैं ये कैसे हैं और किस जातिके हैं?

पुद्गलद्रव्योंकी स्थितियोंका विचार—इस गाथामें बता रहे हैं कि ये पुद्गल अपनेमें अपनी नाना शक्तियाँ रखते हैं, और ये वादर और सूक्ष्म नाना प्रकारके भेदसे हैं। वादर मायने स्थूल और सूक्ष्म मायने सूक्ष्म। कौन स्कंध स्थूल हैं और कौन सूक्ष्म हैं, इन सब दिखने वाली चीजोंका ब्योरा चल रहा है। इनमें सर्वप्रथम बात यह जानें कि जो कुछ भी पदार्थ यहाँ दिखते हैं, भोगोपभोगमें आते हैं वे सब एक-एक पदार्थ नहीं है। जैसे यह एक कंकड़ दिख रहा है तो यह एक चीज नहीं है, यह अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है, ऐसे ही जो कुछ भी नजर आता है वह सब स्कंध है, मायाजाल है, कभी बिघट जायेगा। ये सब पदार्थ इस रूप न रहेंगे। खूब भली भाँति विचार करलें क्योंकि ये परमार्थ चीज नहीं हैं। जो एक परमाणु है वह द्रव्य है। दृश्यमान पदार्थ न सही एक परमाणु अनके परमाणुओंका पिण्डस्कंध है लेकिन इस स्कंधकी हालतमें वहाँ यह भेद नहीं डाल पा सकते हैं कि देखो

इसमें यह एक परमाणु है, यह एक परमाणु है, इसलिए वे स्कंध एक एक पदार्थकी तरह लग रहे हैं। तो इनकी स्कंधोंकी बात अब करेंगे।

पुद्गल स्कंधोंके ६ प्रकार—ये स्कंध ६ प्रकारके हैं स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। सूक्ष्मका अर्थ है बहुत छोटा। जो किसी चीजसे भिड़ न सके। स्थूलका अर्थ है मोटा, जो कि किसी दूसरी चीजसे भिड़ सके। तो ये सब पुद्गल द्रव्य इन ६ ढंगोंमें हैं। स्थूलस्थूल वे कहलाते हैं कि जिनको छेदा भेदा जा सके, दूसरी जगह ले जाया जा सके। जैसे ये चौकी, पत्थर आदि और स्थूल वे कहलाते हैं जो छेदे भेदे न जा सकें, पर दूसरी जगह ले जाये जा सकते हैं। जैसे पानीको भेदा नहीं जा सकता, पर उसे उठाकर कहींसे कहीं ले जाया जा सकता है, और सूक्ष्मसूक्ष्म है छायाकी तरह। जैसे छायाको छेदा भेदा नहीं जा सकता, कहीं पकड़कर ले नहीं जाया जा सकता, और है वह पुद्गल। और सूक्ष्मस्थूल है नेत्रइन्द्रियको छोड़कर शेष चार इन्द्रियके विषय याने घ्राणसे गंध जाना तो गंधको कोई पकड़कर दिखा तो नहीं सकता। सूक्ष्म वह कहलाता जो न छेदा भेदा जाये, न कहीं ले जाया जा सके, न आँखों भी दिखे। कर्म सूक्ष्म हैं, इन्हें अवधिज्ञानी जानते हैं। कोई विशेष अवधिज्ञानी मुनि है तो वे किसीके कर्मोंको भी देख लेंगे कि इस जीवके ऐसे ऐसे कर्म बँधे हैं। और सूक्ष्मसूक्ष्म वे कहलाते हैं जिनसे सूक्ष्म और कुछ नहीं है जैसे परमाणु। तो इस तरह ६ जातियोंमेंसे सब पदार्थ विभक्त हैं।

समस्त पुद्गलोंसे अन्तस्तत्वकी विविक्तता—अब यह बतलाओ कि उक्त छहों प्रकारके पदार्थोंमें हम आपका साथी कौन है? कोई भी नहीं है। मेरा साथी तो है मात्र मेरा ज्ञान। ज्ञानके मायने आत्मा। उस आत्माका स्वरूप क्या है सो सोचिए। जैसे यह चौकी दिखती है कि यह इस तरहकी कठोर, लम्बी, चौड़ी, ऊँची, मोटी है उस तरहसे अपने आपके बारेमें भी विचार करें कि हम आप वास्तवमें कौन हैं? लोग कहते तो हैं कि मैं हूँ लेकिन वे पुद्गल शरीरको ही मैं समझते हैं, परन्तु मैं यह नहीं हूँ, मैं हूँ एक जाननहार पदार्थ, जिसमें प्रतिभास है, ज्ञानदर्शन है वह है मैं। तो उस मैं से ये दिखने वाली सभी चीजें अत्यन्त न्यारी हैं। अब आप देखिये जिस घरमें आप उत्पन्न हुए वहाँ यदि आप उत्पन्न हो गए होते तो वहाँके प्राप्त समागमोंको आप अपना मान लेते कि नहीं?.. मान लेते। तो फिर वहाँ मेरापन ठीक रहा? क्योंकि आज जिस घरमें आप पैदा हो गए हैं वहाँके प्राप्त समागमोंको अपना मान बैठे हैं। इस जीवकी आदत ऐसी ही पड़ी है कि वहाँ यह पैदा हो जाता है वहाँके प्राप्त समागमोंसे ही यह ममता करने लगता है। तो जिन पुद्गलोंमें ममताकी जा रही है वे क्या हैं, कितने ढंगके हैं, किस स्वरूपके हैं यह चीज जानना जरूरी है। कोई सामान्य रूपसे जानें, कोई विशेष रूपसे। जैनशासनके परिज्ञानका प्रयोजन सिर्फ इतना ही है कि यह भेदविज्ञान कर लेवें कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है, और भीतरमें कुछ ऐसा ज्ञानप्रकाश बढ़ाये कि ये दिखने वाले समस्त बाह्यपदार्थ मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं। तो जिनमें हमें भेदविज्ञान करना है उन पदार्थोंकी यहाँ चर्चा चल रही है कि ये पदार्थ कैसे हैं। कोई पदार्थ स्कंध है, कोई देश है, कोई प्रदेश है, कोई परमाणु है। जो जो बड़े पूरे हैं, वे स्कंध है। उनके आधे हो गए देश और आधे हो गए प्रदेश, किन्तु एक ही है। आधा तो कुछ पदार्थ होता ही नहीं है। बहुतसे पदार्थ मिले थे तो अब बिछुड़ गए, कुछ अलग हो जाए उसीको लोग आधा कहते हैं। किसी काठ पिण्डके दो टुकड़े हो गए तो लोग कहते हैं कि देखो, यह काठ पिण्ड आधा दो भागोंमें बंट गया,पर ऐसी बात वहाँ नहीं है। एक पदार्थका टुकड़ा नहीं हुआ करता। वे टुकड़े अनन्त परमाणुओंके समूह हैं। मैं जीव एक हूँ तो मेरे कभी टुकड़े नहीं हो सकते। एक परमाणुका खण्ड नहीं है, वह सदा एक है। तो यह बात निरखना है मैं आत्मा इन सब बाह्य पुद्गलोंसे अत्यन्त निराला हूँ।

सर्व परपदार्थों, परभावों व विकल्पोंसे विविक्त निरखनेमें ही आपत्तिसे छुटकारा। यही बड़ी आपत्ति है जो इस जीवकी यह बुद्धि जगती है कि दुनियामें मेरा नाम हो, मेरी पोजीशन हो, लोग मुझ अच्छा समझें, कुछ यद्यपि यह बात किसी दृष्टिसे ठीक है कि इज्जत बनी रहेगी तो वह व्यक्तिसे पापोंसे डरेगा। कहीं मेरी निन्दा न होने पावे, मेरी पोजीशन बनी रहे। यद्यपि ऐसी बात भी एक दृष्टिसे भली है, लेकिन कोई इसपर भी उतारू हो जाये कि बस मेरा तो जीवनमें केवल एक ही काम है कि मैं अपनी इज्जत बढ़ाता रहूँ, दुनियाके लोग मान जायें कि यह भी कुछ है। यह सब विकल्प तो घोर अंधकार है, अज्ञान है। दुनिया जान गई तो क्या है? ये दुनियाके लोग तो कीड़े-मकोड़ोंकी भांति जन्म-मरण करने वाले प्राणी हैं। इन्होंने कही स्वार्थवश कुछ कह दिया तो इससे इस जीवका क्या उत्थान हो गया? और फिर जिस शरीरका मुद्राका यह उत्थान चाहता है, पोजीशन चाहता है वह तो एक मिथ्या चीज है। यह शरीर मैं नहीं हूँ। मैं तो सर्वपुद्गलोंसे निराला सर्वजीवोंसे निराला एक अपनी ही दुनियाको रचने वाला हूँ। मेरा भविष्य मुझपर ही निर्भर है। मैं अपनेको जानूँ, अपनेको देखूँ, अपनेमें रहूँ, ऐसी हमारी स्थिति बन सके तो उससे हमारी सद्गति है, हम संसारके सर्व संकटोंसे छूट जायेंगे। तो यह धुन बनाना है, अन्य बातें जैसी हों उसमें व्यवस्था बनाये और अपना जीवन निर्वाह करें। मनुष्य हुए हैं तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यकी आराधनाके लिए हुए हैं। इसीसे इस दुर्लभ नर-जीवनके पानेकी सार्थकता है।

पुद्गलद्रव्यकी विभाव्यञ्जन पर्यायें। पुद्गलद्रव्यमें उक्त सब भेद द्रव्यार्थिकनयके भेदरूप व्यवहारनयके अभिप्रायसे किए गए हैं। अब इसी भेदको पर्यायदृष्टिसे और द्रव्य प्रदेशोंकी सीमामें भेद कर रहे हैं। पुद्गलद्रव्यकी पर्यायें दो प्रकारकी हैं स्वभावपर्याय और विभावपर्याय! गुणमें भी दो प्रकारके भेद हैं, और आकार अथवा व्यञ्जनके भी दो प्रकारके भेद हैं, उनमें स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और स्वभाव गुणपर्याय तो सहज स्वाभाविक है, सुगम है। विभावव्यञ्जनपर्यायकी बात कह रहे हैं। विभाव व्यञ्जन पर्यायका अर्थ है कि प्रदेशके आकारमें ही बदल है, किन्तु वह बदल नैमित्तिक है, विकाररूप है, जिसको शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया उद्योत और आताप इन १० प्रकारोंमें बताया गया है। इनमें शब्द पर्यायका विवरण सुनो।

शब्दनामक पुद्गलद्रव्यकी विकारव्यञ्जन पर्याय। शब्द दो प्रकारके होते हैं (१) भाषात्मक और (२) अभाषात्मक। उनमेंसे भाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं (१) अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक याने किसी प्राणीने अपनी जिह्वा इन्द्रियसे वचन बोला तो वहाँ भाषा तो निकली, मगर किन्हीं प्राणियोंकी वह भाषा अक्षरात्मक है और किन्हींकी अनक्षरात्मक है। अक्षरात्मक भाषा अनेक प्रकारकी होती हैं। जितनी प्रकारकी भाषायें हैं उतनी प्रकारके अक्षरात्मक भाषा शब्द हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदिक भाषाओंके भेद हैं, जिन भेदोंसे आर्य पुरुष और म्लेच्छ पुरुषोंका व्यवहार चलता है। अनक्षरात्मक शब्द दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके तिर्यञ्च जीवोंमें पाया जाता है और सर्वज्ञकी दिव्यध्वनिमें भी अनक्षरात्मक भाषा ही है। अभाषात्मक शब्द दो प्रकारके होते हैं जिन शब्दोंमें भाषा तो नहीं है, कोई अर्थकी बात ध्वनित नहीं होती, जो अभिप्रायपूर्वक कहा गया नहीं है, किसी प्राणीका शब्द नहीं है, किन्तु हैं शब्द तो ऐसे अभाषात्मक। शब्द दो प्रकारके होते हैं प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिकका अर्थ है जो किन्हींका संयोग-वियोगका प्रकार करके शब्द बनाया जाये, किन्तु किन्हींका प्रयोग न किया, किसी जीवके निमित्तसे उनका संयोग वियोग न बनाया गया, किन्तु स्वभावसे ही उनमेंसे शब्द गर्जना बनती हैं वे वैस्रसिक शब्द कहलाते हैं। प्रायोगिक शब्द चार प्रकारके कहे गए हैं तत, वितत, धन और सुषिर। अनेक प्रकारके बाजोंकी ध्वनिमें जो शब्द निकलते हैं उन शब्दोंकी चार जातियाँ होती हैं एक तो तत जो तारोंकी वीणा आदिक द्वारा स्वर

निकलते हैं, इनमें वीणा, सितार, सारंगी बेज्जो, बेलियन, गिटार, हारमोनियम आदिक सब गर्भित हो जाते हैं। वितत कहलाते हैं ढोल आदिकके शब्द। जितने भी प्रकारके ढोल, तासा, ढपला, मृदंग, तबला आदिक हैं वे सब विततमें गर्भित होते हैं। धन कहलाते हैं कांसा ताल आदिकके शब्द। जैसे कटोरी बजाना या चिमटा बजाना, कांसा ठोकना, मंजीरा, झांझ ये सब धन शब्दमें शामिल है और बांसुरी आदिकके शब्द सुषिरके शब्द कहलाते हैं, ये सब प्रायोगिक शब्द हैं। इनके बजाने वाले अभ्यासी पुरुष होते हैं और उसके व्यापारसे इन शब्दोंमें ध्वनि बनती है। वैमलिक शब्द उसे कहते हैं जो स्वभावसे होता है। जैसे बिजलीप्रताप, मेघोंकी गर्जना, अथवा इन्द्रधनुष आदिकसे उत्पन्न होने वाला जो शब्द है, जो आवाज केवल स्कंधोंकी स्निग्धता, रूक्षता, आदिक गुणोंके कारण होती है, ऐसे बहुत प्रकारके शब्द वैमलिक शब्द कहलाते हैं। ये सभी पुद्गलके विकार हैं, पुद्गलके संयोग वियोगकी प्रक्रियाओंसे उत्पन्न होते हैं। ये पुद्गल व्यञ्जन पर्यायें कहलाती हैं।

बन्धनामक विकारव्यञ्जनपर्याय अब बंधकी कथा सुनो। बंध नाम है सम्बंधका। जहाँ घन बंध हो जाता है वह सब बंध पर्याय कहलाती है। दो पदार्थोंका परस्परमें बंध हो तो वहाँ विकार आया किधर? प्रदेश प्रदेश परस्पर बंधनमें हो गए, परतंत्र हो गए, जैसे मिट्टीके पण्ड आदिक रूपसे और बहुत प्रकारसे बंध होते हैं वे हैं पुद्गल बंध, स्कंध बंध, सामान्य बंध और जो कर्म शरीररूपसे बंध होता है वह है जीव और पुद्गलके संयोग वाला बंध। कर्मके परमाणु और जीवके प्रदेश इनका एकक्षेत्रावगाह रूप बन्धन होता है, यह जीव पुद्गल संयोगसे उत्पन्न हुआ बंध। इसको द्रव्य बंध कहते हैं, और जीवमें जो रागद्वेषादिक विकार उत्पन्न होते हैं वे भावबंध है अर्थात् यहाँ केवल भावका बंधन है। जीवके स्वभावमें इन रागादिक विकारोंका बंधन होता है, यह भावबंध कहलाता है।

सूक्ष्म और स्थूलनामकी विभावव्यञ्जन पर्याय अब सूक्ष्मको देखिये सूक्ष्मके मायने हैं छोटा होना, यह सापेक्ष व निरपेक्ष दो प्रकारकी पर्याय है। जैसे बेलकी अपेक्षासे बेर सूक्ष्म होता है, तो सूक्ष्मता कहीं होती है सापेक्ष और कहीं है निरपेक्ष। जो सूक्ष्म कहा वही चीज और अधिक सूक्ष्म वस्तुके मुकाबलमें स्थूल हो जाती है, पर जो निरपेक्ष सूक्ष्म है वह सदा सूक्ष्म है, तो इन स्कंधोंमें दृश्यमान पदार्थमें जो सूक्ष्मताका व्यवहार है वह है सापेक्ष व्यवहार, किन्तु परमाणुमें सूक्ष्मताकी बात कही जाती है वह है साक्षात् अथवा निरपेक्ष। अब स्थूलताकी बात सुनो। स्थूलता भी दो तरहसे देखी जाती है (१) सापेक्षतासे और (२) निरपेक्षता से। जैसे बेरकी अपेक्षासे बेल स्थूल है तो यह सापेक्ष स्थूलका वर्णन है। बेलसे बढ़कर मोटा कोई पदार्थ हो तो उसकी अपेक्षा यह बेल सूक्ष्म कहलाने लगेगा। तो सापेक्ष स्थूल व्यवहारमें जो अभी स्थूल कहा जा रहा वह सर्वदा स्थूल है जगत व्यापी महास्कंध तीनों लोकका समुदायरूप जो अभिप्रायमें एक पिण्ड स्वीकार किया वह है सर्वोत्कृष्ट स्थूल।

संस्थाननामक विभावव्यञ्जनपर्याय अब संस्थान नामक विभाव व्यञ्जन पर्यायकी बात देखिये जीवके जो ६ प्रकारके संस्थान बताये गये हैं समचतुरस्र, निग्रोध, बाल्मीक, कुब्जक, बामन और हुंडक, ये उस उस जातिके कर्मोंके उदयसे होते हैं इसलिए इन्हें जीवोंमें बताया गया है, लेकिन साक्षात् हैं ये सब पुद्गलके ही संस्थान। शरीरादिक समान चतुरस्र हो गए, जितने लम्बे, चौड़े, मोटे चाहिएं उस प्रकारसे रचे गए, तो रचे कौन गए? पुद्गल ही। यह आकार कहाँ हैं? पुद्गलमें। अतएव ये सब संस्थान पुद्गलके नहीं याने जीवत्यक्त जो ये सब शरीर हैं, वे कभी छिदभिद कर या या अन्य-अन्य आकारोंमें हो जाते हैं, तो ये नाना प्रकार भी पुद्गल ही संस्थान हैं, जैसे गोल हो जाना, तिकोना होना, चौड़ा होना, चौकोर होना, या मेघपटल आदिकमें नाना प्रकारके आकार होना

ये सब भी पुद्गल ही हैं, तो ये संस्थान पुद्गलद्रव्यकी व्यञ्जन पर्याय हैं अर्थात् उन परमाणुओंमें ही, प्रदेशोंमें ही, आकारोंमें ही उस प्रकारका फैलाव हुआ है।

भेदनामक विभाव्यञ्जनपर्यायें—अब भेदनामक पुद्गल द्रव्यकी विकार व्यञ्जन पर्यायोंको सुनो भेद ६ प्रकारके होते हैं। भेदका अर्थ है टुकड़ा हो जाना, ये ६ प्रकारके हैं उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन। उत्करका अर्थ है जैसे काठ आदिकको करोती आदिकसे टुकड़े कर देते हैं अथवा बसूले आदिकसे छीलते हैं तो काठमें जो भाग बना दिया करते हैं वे भेद सब उत्कर कहलाते हैं। चूर्ण नाम उसका है जो गेहूँ, जौ आदिक अनाज पिसकर चूर्ण हो जाते हैं। खण्ड कहते हैं घट आदिकके टुकड़े हो जानको। जैसे घड़ेके टुकड़े हो गए, खपरियाँ बन गईं तो ये खण्ड कहलाते हैं। अथवा जैसे दाना शक्कर बनती है तो किसी तरह उस रसके उतने खण्ड-खण्ड बना दिए गए वह सब खण्ड नामका भेद है। चूर्णिका मूँग आदिककी दालोंमें होता है, उसकी चुनी हो अथवा दो दालें हो गईं, यह सब चूर्णिका नामका भेद है। प्रतर भेद होता है मेघ पटल आदिकका। मेघ बहुत घने फैले हों और फैल करके भी अलग-अलग हो जाते हैं तो उनका वह फैलावा प्रतर भेदके ढंगका होता है। अणुचटन फुलिंगेके निकलनेको कहते हैं। जैसे तपते हुए लोहेके पिण्डपर घनकी चोट मारनेपर फुलिंगे निकलते हैं वे अणुचटन कहलाते हैं। भेद ही तो हुआ, वहाँ वह सब कुछ एक लोहपिण्डमें था, उसका कोई वह अंश ही तो है जो थोड़े फुलिंगे निकलते हैं। वे फुलिंगे पहिले उसी मूलमें ही तो थे, अब किसी भी प्रकारसे वे फुलिंगे रूपमें उचट गए तो वह कहलाता है अणुचटन। इस प्रकारके भेदनामक पुद्गलकी व्यञ्जन पर्यायें ६ प्रकारकी होती हैं।

अन्धकार, छाया, उद्योत व आतप नामकी विभाव्यञ्जन पर्यायें—अब अंधकार नामक पुद्गलकी व्यञ्जनपर्याय देखिये जो दृष्टिका प्रतिबंध करने वाला हो उसको अंधकार कहते हैं। यह अंधकार उन उन द्रव्योंकी व्यञ्जनपर्याय है जिनपर अंधकार है। वह उसके ही प्रदेशका उस प्रकारका परिणामन है। वह है तम नामकी विकार व्यञ्जन पर्याय। छाया व्यञ्जनपर्याय होती है वह जो वृक्ष, मुनष्यादिकके सहारे। जो कुछ भी वर्ण आदिकमें विकार आया है, उसकी जो परिणति हुई है उसे छाया कहते हैं। जैसे वृक्षकी छाया धूपमें आ जाती है। पृथ्वीका वह प्रकाशरूप मिटकर कुछ उस प्रकारका रूप आया है। अंधकार उसे यों नहीं कह सकते कि वह स्पष्ट दिख रहा है। इसी प्रकार दर्पण आदिकमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे भी छाया कहते हैं। यह पृथ्वी और दर्पण आदिकके स्कंधोंका ही उस प्रकारका प्रदेश परिणामन है इस कारण यह व्यञ्जनपर्याय कहलाता है। उद्योत नामक विभाव व्यञ्जनपर्याय चन्द्रके विमानमें या पटबीजन आदिक तिर्यञ्चोंके शरीरमें होता है। जो प्रकाशमय है किन्तु ठंडा है, उसमें गर्मी नहीं है, इस प्रकारका उद्योत पुद्गलकी विभाव व्यञ्जन पर्याय है और १०वीं पर्याय है आतप-सूर्यके विमानमें। पृथ्वी कार्योमें आतप नामकी विभाव व्यञ्जनपर्याय होती है। इस तरह नाना प्रकारकी व्यञ्जनपर्यायमें ये पुद्गल द्रव्य पाये जाते हैं।

जं इंदिण्हिं गिज्झं रूवं-रस-गंध-फास-परिणामं।

तं चिय पुग्गल-दव्वं अणंत-गुणं जीव-रासीदो ॥ २०७ ॥

पुद्गलद्रव्यका स्वरूप—जो रूप, रस, गंध और स्पर्श परिणाम युक्त होनेके कारण इन इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आते हैं वे सब पुद्गलद्रव्य हैं। इस गाथामें पुद्गलद्रव्यका स्वरूप कहा गया है। यहाँ स्पष्टतया यह बताया है कि जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्शका परिणाम होता है वे सब पुद्गलद्रव्य कहलाते हैं। तो जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जायें उनको पुद्गल द्रव्य कहते हैं, ऐसे पुद्गलद्रव्यकी संख्या जीवराशिसे अनन्तगुनी है। अनन्त गुनी

क्यों है ? तो उसका स्पष्ट प्रमाण तो यह है कि एक जीवने जो शरीर ग्रहण किया है उस शरीरमें अनन्त परमाणु हैं और जीवमें जो कर्म बँधे हुए हैं उनमें शरीरसे भी अनन्तगुणों परमाणु हैं। तब एक जीवके ही जुम्मे जो संसारमें बस रहे हैं अनन्तानन्त परमाणु पड़े हुए हैं और ऐसे संसारी जीव हैं अनन्तानन्त। तो पुद्गल द्रव्य इस जीवकी संख्यासे भी अनन्तगुने हो गए। पुद्गल द्रव्य इन इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आते हैं क्योंकि पुद्गलपर्याय रूप, रस, गंध, स्पर्शमें परिणत हुई है। वह कितनी ही प्रकारोंकी है।

पुद्गलद्रव्यके गुणोंकी पर्यायें सिद्धान्तग्रन्थोंमें बताया गया है कि स्पर्श ८ प्रकारके हैं शीत, उष्ण, स्निग्ध, सूक्ष्म, कोमल, कठोर, भारी और हल्का। ये स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा जाने जाते हैं, स्पर्श किए जाते हैं, इस कारण ये स्पर्श हैं और ये सब स्पर्शन इन्द्रियके विषयभूत हैं। रस ५ प्रकारके हैं तीखा, कड़वा, कषायला, खट्टा, मीठा ये ५ प्रकारके रस रसनाइन्द्रियके द्वारा रसे जाते हैं। ये रसना इन्द्रियके विषयभूत हैं। गंध दो प्रकारके हैं सुगंध और दुर्गन्ध। ये घ्राणइन्द्रियके विषयभूत हैं। वर्ण ५ तरहके हैं सफेद, पीला, नीला, लाल और काला। ये वर्ण चक्षुइन्द्रियके द्वारा निरखे जाते हैं, इस कारण चक्षुइन्द्रियके विषयभूत हैं। जो शब्द हैं वे सब कर्णेंद्रियके विषयभूत हैं। ये सभीके सभी विषय पुद्गल द्रव्य कितने हैं ? तो सर्व जीव राशिसे अनन्तानन्त गुने हैं। बताया गया है सिद्धान्त ग्रन्थोंमें कि जीवके द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं और जीवत्यक्त भी पुद्गल अनन्त हैं, इस प्रकार ये अनन्तानन्त सभी पुद्गल द्रव्य जीवसे पृथक् हैं। ये अचेतन हैं, जीव चेतन हैं, इनसे निराला जो अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करता है वह जीव अन्तरात्मा होता है और इस अन्तरात्मत्वके उपायसे अपने उस परमस्वरूपकी प्राप्ति कर लेता है।

जीवस्स बहु-पयारं उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं।

देहं च इंदिवाणि य वाणी उस्सास-णिस्सासं ॥ २०८ ॥

जीवके पुद्गलद्रव्यकृत उपकारका वर्णन लोक भावनामें समस्त द्रव्योंका वर्णन किया गया है। जब पदार्थका यथार्थस्वरूप चित्तमें आता है तो उस समय मोह रागद्वेष न होनेसे अथवा रागादिक मंद हो जानेसे आत्माको एक अपूर्ण शान्ति मिलती है। यह लोक कितना बड़ा है, उसके सामने आजके परिचयका क्षेत्र कितना है? यहाँ राग मोह करके इस जीवको क्या लाभ मिलेगा ? छोड़नेकी चीज है यह। इसी प्रकार इस लोकमें क्या-क्या रचनायें हैं, कहाँ कहाँ कैसे-कैसे जीव रहते हैं ? अज्ञानके वश होकर कैसे-कैसे शरीरोंको ग्रहण करना पड़ता है, जन्म-मरण है, ये सब बातें यथार्थ ध्यानमें आनेसे जीवकी अशान्ति समाप्त हो जाती है। इस प्रकरणमें पुद्गल द्रव्यका वर्णन चल रहा है। जीवतत्वका वर्णन करनेके बाद पुद्गलद्रव्यका वर्णन इस कारण किया जा रहा है, जीवका पुद्गलके साथ कुछ निकट सम्बन्ध है, और दिख भी रहा है जीव शरीरमें बद्ध है। कर्मोंका बन्धन होता है और यह जीव सम्बन्ध व असम्बद्ध उस पुद्गल द्रव्यसे कितना अपनेमें विकल्पसे काम लेना चाहता है और पुद्गल इस प्रसंगमें जीवका क्या क्या उपकार करता है वह इस गाथामें बताया है। यहाँ उपकारका अर्थ भलाईसे नहीं है किन्तु कुछ काम करनेसे है। चाहे जीव वहाँ सुख माने या दुःख। जीवके किसी भी प्रकारके परिणमनमें ये पुद्गल, कर्म, अजीव कुछ भी निमित्त होते हों तो यह पुद्गल द्रव्यका उपकार कहा जाता है। यह पुद्गल द्रव्य जीवका बहुत प्रकारसे उपकार करता है।

शरीर, इन्द्रिय, वाणी श्वासोच्छ्वास, सुख और दुःखकी पोद्गतिकता शरीर इन्द्रिय वाणी और श्वासोच्छ्वास इनके होनेमें निमित्त पुद्गल ही तो है अथवा यह पुद्गलस्वरूप ही तो है। और, इसका जीवोंसे

सम्बन्ध है इस कारण इसे जीवके प्रति पुद्गलका उपकार कहा गया है। सुख होना, जन्म-मरण होना यह पुद्गल द्रव्यका उपकार है, क्योंकि सुख दुःख पुद्गल द्रव्यके सम्बन्ध बिना, उनका आश्रय किए बिना, कर्मका उदय आये बिना नहीं होता। यद्यपि सुख और दुःख जीवका स्वरूप नहीं है। जीव एक प्रतिभासात्मक पदार्थ है, जो आंखोंसे दिखता नहीं, कानोंसे सुना जाता नहीं, किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहणमें नहीं आता, अमूर्त पदार्थ है और चेतन्यको लिए हुए है, संसारके समस्त पदार्थोंमें एक विलक्षण पदार्थ है, जो सर्व कुछ जान लेता है। भला मैं सत् रूप तो हूँ, मेरी सत्ता है, मैं हूँ और जाननहार हूँ। मैं कैसा हूँ और किस तरह जान लेता हूँ इसका चाहे हम विश्लेषण न कर सकें, मगर अनुभवमें तो आता है कि मैं हूँ कोई और जानने वाला हूँ। यदि ऐसा जाननेका स्वभाव जिसका है उसके सम्यक्स्वरूपको सोचा जाये तो उस रागद्वेष मोह सुख-दुःख तरंग ये भी स्वभावतः नहीं पाये जाते, किन्तु हैं जीवके ही परिणामन। इनमें निमित्त तो कर्मोंका उदय है और आश्रयभूतपदार्थ हैं ये बाहरी विषयभूत पदार्थ। तो इस पुद्गलद्रव्यके आश्रय और निमित्तसे ये सुख दुःख आदिक हुए हैं, इस कारण इन्हें पुद्गल द्रव्यका उपकार कहते हैं। उपकारके मायने हैं कार्य। पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे यह कार्य बना और चूँकि इसका जीवसे सम्बन्ध है अतएव ये जीवके प्रति उपकार कहलाते हैं।

जन्म और मरणकी पुद्गलकृत उपकाररूपता □ जीवनकी पुद्गल द्रव्यका उपकार है और मरण भी पुद्गलका उपकार है, अर्थात् पुद्गलद्रव्यके काम हैं। आयुका उदय हुआ जीवन बन गया, आयुका क्षय हुआ मरण बन गया, यह कर्मोंके निमित्तसे हुआ, इस कारणसे ये पुद्गलके उपकार कहलाते हैं, उपकारका अर्थ भलाई नहीं। और भलाईकी बात सोचो तो यह जीवन अपनी भलाई इसमें मानता है कि मैं पैदा हो गया और खुशी मानता हूँ, और मरणमें भी चाहे कोई भलाई न मानेपर इस जीवकी भलाई जीवनकी अपेक्षा मरणसे अधिक होती है। जीवनके बाद मरण तो निश्चित है, पर मरणके बाद जन्म लेना ही पड़ेगा, मगर कोई मरण ऐसा भी होता है कि जिसके बाद जन्म नहीं होता। ऐसे मरणको कहते हैं पंडितपंडितमरण अथवा निर्वाण।

अरहंत भगवानके आयुका क्षय होता है तो आयुक्षयका ही तो नाम मरण है। उनका आयुक्षय होनेपर मरण नाम नहीं लेते क्योंकि ऐसी रूढ़ि है कि जिसके बाद जन्म हो उसको मरण कहा करते हैं। भगवानको कैसे कह दिया जाये कि लो अब अरहंत भगवानका मरण हो गया, पर है तो आयुका क्षय ही, उसका नाम मरण कहा जायेगा। लेकिन इसके बाद जन्म नहीं है, और उनका निर्वाण है इस कारण मरण शब्दसे नहीं कहा करते और कहेंगे तो पंडितपंडितमरण कहेंगे अथवा निर्वाण कहेंगे। जो कोई ज्ञानी पुरुष मरणके समयमें समाधिभाव रखते हैं, समतापरिणाम रखते हैं उनका भी भला होता है, एक दृष्टिसे देखा जाये तो मरण बहुत ही अच्छा उपकार है।

पुद्गल द्वारा देहादिका निष्पादन और इनके विवेकमें जीवका उपकार □ देह बनता है, औदारिक आदिक शरीर बनते हैं, इन्द्रियाँ होती हैं, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन सबका जो निष्पादन है वह सब पुद्गलका उपकार है। वाणी होती है भाषात्मक, अभाषात्मक आदिक, अक्षररूप, अनक्षर रूप, वह सब पुद्गलद्रव्यका उपकार है। श्वासोच्छ्वास लेना यह भी जीवका उपकार है, पुद्गल द्रव्यके द्वारा किया गया है। यों जीव और पुद्गलका ऐसा परस्पर कार्य कारण भाव है, एक दूसरेसे काम होता रहता है, किन्तु विवेकी पुरुष जिनको भेदविज्ञान प्रकट हुआ है वे सर्वत्र यह देख रहे हैं कि प्रत्येक सत् अपने आपके स्वरूपमें रहते हुए ही परिणामन करते हैं। देखिये जीव अगर अपने एकत्वस्वरूपका चिन्तन करें तो उसे कहीं भी दुःख नहीं है। यह जीव तो व्यर्थका मोह करके, अपनी ही इस मिथ्या करतूतसे दुःखी हो जाता है। तब इस जीवका अपने आपके स्वरूप सिवाय कुछ है ही नहीं,

तत्त्वतः विचार कीजिए। वास्तविकता यह है कि जीवका जीव स्वरूपके सिवाय कुछ भी नहीं है। तब अत्यन्त भिन्न पदार्थोंमें राग होना, अपनायत होना यह सब व्यर्थका मोह करना, अर्थात् कायदेमें तो मोह न होना चाहिए क्योंकि मोहके विषयभूत ये भिन्न पदार्थ हैं, सभी अपने-अपने स्वरूपमें रह रहे हैं। ये अचेतन पदार्थ किसी भी चेतनमें कुछ अपना व्यापार नहीं करते, लेकिन यह जीवन चूँकि उपयोगवान है, बाह्यपदार्थोंमें उपयोग लगाये रहता है, न लगाये परमें उपयोग और स्वरूप यथार्थ जाने तो इसको कहीं भी कष्ट नहीं है। इस मोही जीवने विकल्प करके अपने कष्ट बनाया है। लोकमें मेरी इज्जत रहे, मेरी शान बनी रहे, ऐसी चाह इस जीवको पीड़ित करती है। जिनमें राग है, जिनसे प्रीति है उनसे प्रीति भरे वचन सुनना चाहते हैं। अपने अपका उत्पात परमें यदि होता है तो इस उत्पातका फल तो कष्ट ही है। यदि उत्पात न करे यह जीव, समतासे शान्तिसे जैसा है वैसा अपना विचार करे, परका विचार करे, ज्ञाताद्रष्टा रहे तो इसको कहीं कष्ट नहीं है। ज्ञानी पुरुषको इसीलिए निराकुल कहा गया है। भले ही किसी स्थितिमें कर्मप्रेरणासे इसको कुछ आपत्तियाँ आयें, लेकिन यह अन्तः तृप्त रहता है, भीतरमें व्याकुल नहीं होता है। सो जीवका स्वरूप यद्यपि सुख दुःखका नहीं है लेकिन अनादि बन्धन होनेके कारण कर्मोदयमें यह जीव अपनेको सुखी-दुःखी अनुभव करता है। है यह सब पुद्गलके सम्बन्धसे, इस कारण जीवके इस तरहके परिणमन भी पुद्गल द्रव्यके उपकार कहे जाते हैं।

अण्णं पि एवमाई उवयारं कुणदि जाव संसारं। मोह-अणाण-मयं पि य परिणामं कुणदि जीवस्स ॥ २०९ ॥

संसारपर्यन्त पुद्गलकृत उपकार—इसी प्रकार जब तक संसार है तब तक अन्य भी उपकार पुद्गलके द्वारा किए जाते हैं। उपकारके मायने यहाँ मौजकी बात नहीं, नहीं तो यह अर्थ हो जायेगा कि देखो संसारमें जीवका उपकार करनेके लिए पुद्गल भी तुले हो जाते हैं। उपकार किसका है? पुद्गलके सम्बन्धमें जो कुछ जीवका हो रहा है वह तो अपकार है, लेकिन यहाँ उपकारका अर्थ काम मात्र है, कार्य हो रहा है। जैसे शरीर मिलना, वचन होना, मन होना, श्वासोच्छ्वास होना यह पुद्गलका उपकार है। सुख-दुःख, जीवन-मरण होना यह पुद्गलका उपकार है। इन सबकी रचनाके कारणभूत तो नियमसे पुद्गल ही हैं। कर्मके उदयमें ये सब रचनायें होती हैं।

कर्मोकी पौद्गलिकताकी सिद्धि—यहाँ कोई शंका कर सकता है कि कर्म दिखते तो नहीं हैं। ये कहीं व्यवहारमें, छूनेमें आते नहीं हैं, तो ये कर्म पौद्गलिक न होना चाहिए। इन कर्मोका कोई आकार ही नहीं है। जैसे शरीरका आकार है तो शरीरको पौद्गलिक कह लो और दिखने वाले जो ये जीव व्यक्तकाय हैं चौकी आदिक इनका भी आकार है, इन्हें भी पौद्गलिक कह लो, पर कर्म तो निराकार हैं, उन्हें पौद्गलिक क्यों कहा गया ? इसके समाधानमें यह अनुमान प्रयोग कर लेना चाहिए कि कर्म भी पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तद्रव्यके सम्बन्धसे इनका विपाक होता है। एक हेतु दिया गया है कि जिसका विपाक, जिसका पकना पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धसे हो वह पौद्गलिक कहलाता है। जैसे धान्यका विपाक। धान्यका पकना मिट्टी पानी आदिक पुद्गलके सम्बन्धसे होता है, इस कारण धान्यको पौद्गलिक कहा गया है, यों देखा ही जाता है। तो इसी तरह इन कर्मोंमें भी यह इतना निर्णय रखना चाहिए कि कर्मोका विपाक सुख-दुःख आदि जब स्वादिष्ट भोजन आदिक द्वारा होता है तो ये कर्म पौद्गलिक हैं।

कर्मबन्धका स्वरूप—ये कर्मपरिणमन कहलाते हैं? तो इसको दो दृष्टियोंसे निरखा जाता है भावदृष्टिसे और द्रव्यदृष्टिसे याने भावबन्धन और द्रव्य बन्धन। भाव बन्धनके नाते तो बन्धन कहलाते हैं सुख-दुःख रागद्वेषादिक

सारे विकार। इनके भावोंका उठाना यही कहलाता है भावबंध। जीवमें विभावोंसे परतंत्रता आयी हुई है और जीव अपने किसी स्वभावरूप ही है, वहां विभावोंका बन्धन बन गया है। केवल सुख-दुःखके अनुभवका ही नाम बन्धन नहीं। वह भी बन्धन है और रागद्वेष आदिक किसी भी प्रकारके विकार उत्पन्न हों उसे भी बन्धन कहते हैं। तो भावदृष्टिसे तो रागद्वेष सुख-दुःखके बन्धका नाम बन्धन है और द्रव्यदृष्टिसे अथवा द्रव्यबन्धनकी निगाहसे जीवके प्रदेशमें पौद्गलिक कर्मका बन्धन होनेका नाम कर्मबन्धन है। दोनों ही इसके समाधान हैं। बंध दो प्रकारका बताया गया है भावबंध और द्रव्यबंध, द्रव्यबंध है या नहीं, इसकी जानकारीके लिए यह समझना चाहिए कि कोई भी पदार्थ स्वयं अपनेमें अकेला होता है, तो वह न तो अशुद्ध होता है और उसमें परतंत्रता आती है। यह एक नियम है। अकेलेमें परतंत्रता क्या और विकार क्या ? कोई भी पदार्थ केवल अकेला ही हो, उसमें किसी भी दूसरे पदार्थका सम्बंध न हो तो वहाँ न विकार आयेगा और न परतंत्रता आयेगी। खूब भली प्रकार सर्वत्र निहार लो। एक मोटी बात समझ लो कि जैसे कोई एक पुरुष है, साधु मुनि है वह अपनेको अकेला अनुभव करके अकेलेका उपयोग रखता है तो उसको बहुतसे बन्धन नहीं हैं और विकार भी नहीं हैं। यह एक स्थूल दृष्टान्त कह रहे हैं तो कोई भी पदार्थ खाली अकेला हो, उसके साथ किसी दूसरेका बन्धन न हो, सम्बंध न हो तो वहाँ विकार भी न बनेगा और परतंत्रता भी न बनेगी, लेकिन यहाँ हम अपने आपमें तक रहे हैं कि परतंत्रता भी है और विकार भी जगते हैं तो इससे सिद्ध है कि हमसे किसी दूसरे पदार्थका सम्बंध है।

कर्मोंकी विजातीयता व सूक्ष्मता—इस प्रसङ्ग तक इतना तो निश्चित हो ही गया है कि मुझमें दूसरे पदार्थका सम्बंध है। अब इसके आगे बात और देखिये कि अपनेसे विजातीय, अपनेसे विपरीत स्वरूप वाला कोई पदार्थ सम्बंधमें हो तो विकार जगता है। मैं हूँ चैतन्य ज्ञानस्वरूप और मुझमें जो विपरिणामन हो रहा है, विकार जग रहा है तो समझना चाहिए कि मुझसे विपरीत चीज कोई मेरे साथ लगी है। जैसे मैं चेतन हूँ ऐसे ही चैतन्य मात्र दूसरे सत् मुझसे चिपका हो तो वहाँ न बन्धन बनेगा, न विकार अर्थात् किसी भी चैतन्यपदार्थके सम्बंधसे विकार नहीं जगता, किन्तु कोई अचेतन पदार्थ ही बन्धनमें है तब विकार जग रहा है। यहाँ तक दो बातें सिद्ध हो गईं। जीवके साथ किसी दूसरे पदार्थका बन्धन है तभी इसमें विकार है और परतंत्र्य है, और वह बन्धन भी है विजातीय पदार्थ का, तो मैं चेतन हूँ तो दूसरा जो कुछ बँधा है वह अचेतन है। अब तीसरी बात सोचिये जीव है एक अमूर्त पदार्थ। इस अमूर्त पदार्थके साथ किसी मूर्तिकका बन्ध कहाँ ? एक यह प्रश्न हो सकता है। उत्तर तो यह है कि अनुभव ही बता रहा है कि बन्धन है तब वहाँ इसका यों निर्णय करना होगा कि वह मूर्तिक पदार्थ भी अतीव सूक्ष्म पदार्थ है और इसी कारण कर्मसे अधिक सूक्ष्म परमाणुको माना है और किसीको नहीं माना है। जहाँ पुद्गल स्कंधके ६ भेद किए गए हैं वहाँ सूक्ष्म-सूक्ष्म तो पुद्गल परमाणु कहे गए हैं और सूक्ष्म कर्म कहे गए हैं, तो इससे सूक्ष्म और कुछ नहीं होता। ऐसे सूक्ष्म पुद्गल स्कंधोंका अजीव पदार्थोंका उसके साथ बन्धन है। अब जिन कर्मोंका बन्धन है वे कर्म जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहरूपसे पड़े हुए हैं।

मरणके पश्चात् भी जन्मके लिये गये जीवके साथ कर्मोंका गमन—जब यह जीव एक भवको छोड़कर दूसरे भवमें जाता है तो यह स्थूल शरीर यहीं रह जाता है, जिसे लोग जला देते हैं, पर जीवके साथ वे कर्म पुद्गल बंध साथ नहीं छोड़ते। वे साथ ही जाते हैं और अगले भवके शरीर निष्पन्न होनेके वे कारण बनते हैं, इसी कारण अनेक दार्शनिकोंने दो प्रकारके शरीर माने हैं स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर। जैन सिद्धान्तके अनुसार ये जो औदारिक आदिक शरीर हैं ये हैं स्थूल शरीर और जो कर्म एवं तैजस शरीर है वह है सूक्ष्म शरीर। जैसे

परमागममें बताया है कि तैजस और कार्माण शरीर अनादि कालसे जीवके साथ सम्बन्ध लिए हुए हैं और वे प्रतिघातरहित हैं। जीवमरणकरके जब दूसरे भवमें जाता है तो रास्तेमें पहाड़ भी होते हैं बज्र भी पड़े हों तो उनसे भी यह जीव छिड़ता नहीं है और जीवके साथ बँधे हुए कर्म भी छिड़ते नहीं हैं। सो कर्मको अप्रतिघात बताया है, और अनादिकालसे इनका सम्बन्ध है। अनादिकालसे लेकर अब तक भी यह सम्बन्ध दूर नहीं हो सका। जिस समय कर्मका बन्ध थोड़ी देरको हट गया हो तो फिर सदाके लिए यह कर्मबन्ध दूर हो जायेगा; अर्थात् जिनका निर्वाण होता है उनको यह अवस्था प्राप्त होती है कि कर्मकी बन्ध परम्परा वहाँ खत्म होती है। तो इस जीवके साथ कोई दूसरी चीज लगी है वह दूसरी चीज जीवसे विपरीत स्वभाव वाली है और वह है सूक्ष्म, और उसका है जीवमें एकक्षेत्रावगाह बन्धन। जीव जब मरण करता है तब उसके साथ ये कर्म जाते हैं और ये कर्म औदारिक आदिक शरीरकी निष्पत्तिमें कारण पड़ते हैं। तो कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर ये सब कार्य होते हैं, इस कारण इन सबको पुद्गलका उपकार कहा गया है। इन कार्योंमें जीव चाहे मौज माने या कष्ट माने, पर यह पुद्गलका विकार है। पुद्गलके सम्बन्ध बिना ये कार्य नहीं हो सकते, इस कारण इन्हें पुद्गलका उपकार कहा गया है। यहाँ जो विवेक करेगा वह आकुलता न पायेगा और जो इनमें अविवेकसे लगेगा वह अशान्त होगा। इस कारण हमारा कर्तव्य है कि हम भेदविज्ञान करें और अपने अन्तःस्वरूपके अनुभवसे तृप्त रहा करें।

भाववचन व द्रव्यवचनकी पौद्गलिकता—अब यहाँ बताया जा रहा है कि दुनियामें अपनेको जितने व्यवहारके प्रसंग मिल रहे हैं वे सब इस पुद्गलके उपकार हैं अर्थात् पुद्गलके कार्य हैं। अज्ञानी जन यह समझते हैं कि मैं बोलता हूँ, मैं अमुक काम करता हूँ, श्वास लेता हूँ, ऐसी इन पुद्गलकी बातोंको अपनी करतूत मानते हैं लेकिन इनमें अपनी करतूत नहीं है। ये सब पुद्गलकी करतूत हैं। पुद्गल मिल गए, उनकी जैसी योग्यता है उस प्रकार उनकी वृत्ति बन जाती है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जीवका सम्बन्ध है तब ये वचन बोले जाते हैं। श्वासोच्छ्वास चलती है, दैहिकी क्रिया होती है। वचन एक भाषा वर्गण जातिके पुद्गलका परिणमन है, जैसे जीभ हिलाया तो इसके हिलनेसे यहीं भरे पड़े हुए जो भाषावर्गण जातिके सूक्ष्म पुद्गल हैं वे उस वचनरूप परिणम जाते हैं। इनको करने वाला मैं आत्मा नहीं हूँ। मैं आत्मा तो सिर्फ भाव बनाता हूँ और अपने आपमें उस तरहका योग किया करता हूँ हिलता-डुलता हूँ। यों योग उपयोग तो उसके परिणमन हैं, फिर इसके बाद वचन जो निकलते हैं सो निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक ये स्वयं निकलते हैं, तो ये वचन भी पुद्गलद्रव्यकी क्रिया हैं। वचन दो प्रकारके हैं द्रव्यवचन और भाववचन। द्रव्यवचनके मायने जो शब्द सुनाई देते हैं वे द्रव्यवचन कहलाते हैं और उन द्रव्यवचनोंको सुनकर भीतरमें जो गुणगुणाहट होती है या भीतरमें जिन शब्दोंके डोलते हुएमें ज्ञान करते हैं। वह भाववचन है। तो भाववचन कैसे होता है कि जब वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम हो, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम हो और अङ्गोपाङ्ग नाम कर्मका उदय हो तो ये भाववचन हुआ करते हैं, इस कारण भीतरका जो अन्तर्जल्प है वह भाववचन भी पौद्गलिक है और उस सामर्थ्य करके सहित क्रियावान आत्माके द्वारा प्रेरित होकर जो ये पुद्गल वचन रूप बन जाया करते हैं वे द्रव्यवचन हैं, ये दोनों पुद्गलके उपकार हैं, ये जीवनके स्वयंके परिणमन नहीं हैं।

मनकी पौद्गलिकता—मन भी जिसको अज्ञानी भी बहुत अपनाते हैं, मन राजी होता है वह मन भी पौद्गलिक है, मेरा खुदका स्वरूप नहीं है, पर इस मनमें इस आत्माने ऐसा लगाव बनाया है कि मनके सिवाय और कुछ अपनेको मान ही नहीं पाता। वह मन दो प्रकारका है भावमन और द्रव्यमन कर्मोंका क्षयोपशम होनेपर जो

ऐसी योग्यता बनी कि हम किसी वस्तुका विचार कर सकते हैं तो वह भावमन है, ऐसा भावमन भी पुद्गलके सहारे बनता है इस कारण पौद्गलिक है। द्रव्यमान साक्षात् पौद्गलिक है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर, अंतरायका क्षयोपशम होनेपर और अंगोपाङ्गका उदय होनेपर, गुण और दोषके विचार करनेका सामर्थ्य आता है या गुण दोष विचार करनेमें जो सावधान हुआ है ऐसे पुरुषको यह मन विचार करनेका आलम्बन बनता है। जैसे कहते हैं कि भीतर हृदयपर जो अष्टकमलके आकार एक पुद्गल रचना है वह द्रव्यमान कहलाता है। यह सब पौद्गलिक है।

प्राणापानादि वायु, सुख, दुःख आदिकी पौद्गलिकता—जो वायु निकलती है, प्राण, अपान, आदि यह वायु भी पौद्गलिक है, क्योंकि कर्मके उदयसे और जैसे क्षयोपशम है उसके अनुसार यह वायु निकलती है। तो श्वासके बाहर फेंकनेको तो उच्छ्वास कहते हैं और श्वासके लेनेको निःश्वास कहते हैं। तो श्वासका लेना और बाहर निकालना यह जो जीवनका कारण है यह सब मूर्तिमान है। मूर्तिमान है इसका प्रमाण यह है कि जब कोई भयकी बात आती है बज्र गिर गया, बिजली तड़की, किसीने अचानक चीख दिया तो मन दुःखता है। इससे सिद्ध है कि मन मूर्तिक है। किसी प्रकार अगर श्वासकी नलीमें कफ अटक गया तो श्वास रुक जाती है अथवा घृणा वाली चीज देखकर कोई नाक दाबता है तो वायु रुक जाती है। इससे सिद्ध है कि यह श्वास मूर्तिमान है। यह अमूर्त होती तो नाकके दाबनेपर रुक न सकती थी। इसी प्रकार सुख-दुःख भी पुद्गलके उपकार हैं। यहाँ उपकारके मायने भलाई न लेना किन्तु कार्य लेना। ये सब पुद्गलके काम हैं। साता असाताका उदय हो और बाह्यद्रव्य अनुकूल मिल जाये तो वहाँ प्रीतिका परिणाम होता है, चित्त राजी होता है उसे सुख कहते हैं और असाता वेदनीयका उदय होनेपर बाह्यद्रव्योंका प्रतिकूल परिणामन दिखता है जिससे भीतरमें यह रंज मानता है और दुःखी होता है। ये भी पुद्गलके ही काम हैं।

तत्त्वज्ञानियोंकी पावनता—कोई जीव यदि भीतर दृष्टि देकर एक यह निर्णय कर ले कि मैं तो केवल चैतन्यस्वरूप हूँ। विशुद्ध जो जानना है वह मेरा कार्य है और जो कुछ विकल्प तरंग आदिक काम होते रहते हैं यह सब पुद्गलके उपकार हैं। ये पुद्गलके कारणसे बनते हैं। मैं स्वयं इनका करने वाला नहीं हूँ। मेरा स्वरूप तो शुद्ध जानना देखना है। वे भव्य जीव बहुत ही महाभाग हैं, बहुत ही पुण्यवान पुरुष हैं कि जिनको बाह्यपदार्थोंमें मोह नहीं रहता और अपने आपकी स्वरूपदृष्टिमें प्रीति उत्पन्न होती है, यह बात कठिन नहीं है। जानकारी होनेपर फिर उस जानकारी को कौन मेट सकता है? जान लिया ठीक है। अब कोई कितना ही कहे कि तुम ठीक नहीं जान रहे, क्या होता बहकानेसे। जो कुछ जान लिया वह तो जाननेमें आ ही गया। जब कोई चीज ज्ञानमें आ गयी तो उसके विपरीत कोई कैसे मान लेगा? इसी तरह जब भीतरी पुरुषार्थके बलसे अपने आपके स्वरूपका परिज्ञान हो गया, मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अनुभव हो गया तब उसे कोई नहीं बहका सकता है? उसकी प्रीति अपने स्वरूपमें टिकेगी, बाह्यपदार्थोंमें मोह नहीं हो सकता। पर होना चाहिए ऐसे आत्माका अनुभूतिपूर्वक परिचय। एक तो सामान्यतया ज्ञान हो जाना, शास्त्रोंसे लिखे अनुसार ज्ञान कर लेना और एक उसका साक्षात्कार होकर, अनुभव होकर उपयोगमें वह ज्ञानस्वरूप आ जाये इस विधिसे परिचय होवे तो वह अनुभूतिपूर्वक परिचय होना है। अनुभवपूर्वक जो परिचय है वह दृढ़ परिचय है। जैसे रूस, अमेरिका आदिक बहुतसे देशोंका ज्ञान नक्शों द्वारा कर लिया तो वहाँकी पूरी रचनाका ज्ञान हो जाता है, उसे भली-भाँति दूसरोंको समझा बता भी देते हैं। तो एक तो इस प्रकारका ज्ञान हुआ, और इस प्रकारका ज्ञान होना कि वहाँ जाकर सब कुछ देखकर ज्ञान कर लिया, यह परिचय

है अनुभव वाला परिचय। तो अनुभव वाले परिचयमें जो दृढ़ता है वह पढ़कर जाननेमें नहीं है, इसी प्रकार आत्मा जो परिज्ञान किया जा रहा है वह ऊपरी परिज्ञान है, भीतरी तैयारी करके वह परिचय नहीं किया जा रहा है।

परसे असहयोग व सत्याग्रह करके आत्मपरिचय पानेकी आवश्यकता अपने परिचयकी भीतरी तैयारीका अर्थ है कि असहयोग और सत्याग्रह करके बना है अपना परिचय। किसी भी प्रोग्राममें पूरी तैयारीके साथ कोई लगता है तो उसकी दो स्थितियाँ हो जाती हैं असहयोग और सत्याग्रह। असहयोग तो करना था हमें इन बाह्यपदार्थोंका, जिनका सहयोग करने से, जिनका लगाव रखनेसे हमने दुःख पाया है। यहाँके संयोग-वियोग होना, धन वैभवका मिलना न मिलना। आदि सभी स्थितियाँ दुःखके ही कारण बन रहे हैं। यहाँ कोई भी ऐसी स्थिति नहीं दिखती जो वास्तविक शान्तिका कारण बन सके। ऐसा जान कर इन बाह्यपदार्थोंका पूरा असहयोग ठान लिया जाये। जब कोई भी परपदार्थ मेरे लिए हितकारी नहीं है तो मैं व्यर्थमें क्यों किसी परपदार्थको अपने चित्तमें रखूँ? एक बार अपने चित्तको ऐसा बनायें कि अब तो मुझे किसी भी परपदार्थको अपने चित्तमें नहीं बसाना है। सर्व बाह्यपदार्थ मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, सर्व पदार्थ दुःखके ही हेतुभूत हैं। यों सर्व बाह्यपदार्थोंका असहयोग कर दें और भीतरमें एक ऐसा सत्याग्रह कर लें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ, मैं ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ, ऐसा एक सत्य आग्रह कर लिया जाये तो जीवको अपने आत्माका अनुभवपूर्वक परिचय हो सकेगा, ऐसा परिचय अगर उस जीवको हो जाये तो वही वास्तविक अमीर है, महान है। आज पुण्ययोगसे यदि उत्तम साधन पाया है, आजीविका भी ठीक है, किसी भी प्रकारकी असुविधा नहीं है, कोई शारीरिक आपत्तियाँ नहीं हैं, कुल भी श्रेष्ठ मिला है, जहाँ आचार विचार अच्छा चलता है, जैनशासन मिला है, तत्वज्ञानकी योग्यता मिली है तो ऐसे सुन्दर अवसरको पाकर एक ऐसी तैयारी कर लेना चाहिए कि जिस किसी भी प्रकार हो, मुझे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका परिचय कर लेना है, इसके अतिरिक्त अन्य सब कार्य असार हैं, और अनुभव ही बताता होगा कि बहुत कालसे बाह्यपदार्थोंमें लगे रहे, कितनी ही कमाई किया, कितने ही लोगोंसे परिचय किया, कितने ही दंदफंद किए फिर भी अंतमें हाथ कुछ न लगा। तो ये सर्व समागम असार हैं। तो सबको भूलकर एक ज्ञानस्वरूपके भावनाकी धुन बनाना चाहिए। ऐसा करनेसे ही आजका जो महान समागम पाया है वह सफल हो जायेगा। बाकी ये सब पुद्गलके काम हैं, पुद्गलके उपकार हैं।

पुद्गलकृत कार्योंमें प्रीति न करनेका निश्चय इस प्रकरणको सुनकर हमें इस निर्णयमें आना चाहिए कि जो जो पुद्गलके उपकार हैं उनमें मेरेको प्रीति नहीं करना है। जीवन और मरण भी पुद्गलके उपकार बताये गए थे, उस ही से सम्बन्धित यहाँ मरणकी बात कह रहे हैं कि मरण नाम है किसका? प्राणापान जो क्रिया चल रही है, श्वास लेने और फेंकने की जो क्रिया चल रही है इस क्रिया विशेषका विच्छेद हो जाये, यह क्रिया समाप्त हो जाये तो इसीका नाम मरण है। जीवने आयुके उदयसे भव पाया था। अब उस आयुके क्षयसे सम्बन्धित यह प्राणापान क्रियाका विच्छेद हो जाना वही मरण है। तो ये सुख-दुःख जीवन-मरण आदिक सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि मूर्तिमान करणके प्राप्त होनेपर ही ये चीजें उत्पन्न होती हैं।

विविध पुद्गलों द्वारा जीवका सांसारिक उपकार जीवके उपकारक पुद्गल केवल शरीरादिककी ही रचनाके कारणभूत हों यही बात नहीं है किन्तु इस जीवका उपकार उनसे तो हुआ है लेकिन जो अन्य चीज हैं, जल है, भस्म है, अग्नि है, धातुएं हैं, इन सबसे उपकार देखा जा रहा है। यहाँ जीवके उपकारका अर्थ है कि संसार अवस्थामें जीव जिन-जिन बातोंमें पड़ा हुआ है वे सब पुद्गलके सम्बंधसे हो रहे हैं। अभी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु,

वनस्पति इन पाँचोंमेंसे किसी एकसे काम न लें तो यहाँका व्यवहार रुक जाये। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके बिना किसीका गुजारा नहीं चलता। पंचमकालका अन्त होनेके बाद छठा काल आएगा, उस छठे कालमें अग्निका भी लोप हो जायेगा, तब फिर भोजन बनानेके कुछ भी साधन न रहेंगे। तो फिर वहाँ मनुष्य सभी बनचर पशुओंकी भाँति मांसभक्षी हो जायेंगे। और जब छठे कालका अन्त होता तो प्रलय होता है। इसके बाद फिर छठा काल शुरू होता है। छठे कालके बाद फिर छठा काल आया तो जो वृत्ति पहिले छठे कालमें थी वही वृत्ति दूसरे छठे कालमें होगी, लेकिन फर्क इतना है कि पहिले छठे कालमें खोंटी वृत्तियाँ बढ़ती हुई चल रही थीं और दूसरे छठे कालमें घटती हुई खोंटी वृत्तियाँ चलेंगी। फिर पंचम काल आयगा। बादमें चतुर्थ काल आयेगा। वहाँ फिर तीर्थंकर जन्मेंगे, धर्मका प्रसार होगा। तो बात यहाँ यह बतला रहे थे कि अग्नि न होवे तो यह गड़बड़ी हो जायेगी। यहाँका जो उपकार है वह सब पुद्गलके सम्बंधसे है। इस तरह ये सब शरीर मन आदि पुद्गलके द्वारा रचे गए हैं। अजीवके उपकारको बताकर अब यह बतलाते हैं कि जीव जीव भी परस्पर एक दूसरेका कुछ उपकार (काम) करते हुए पाये जाते हैं।

जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणादि सव्व-पच्चक्खं।

तत्थ वि पहाण-हेऊ पुण्णं पावं च णियमेणं ॥ २१० ॥

जीवोंका परस्पर उपकार व उस उपकारमें पुण्य-पापकी प्रधानहेतुता—जीव एक-दूसरेका उपकार करता है इस बातको सभी लोग प्रत्यक्षसे जान रहे हैं, लेकिन वहाँ भी प्रधान कारण हैं, पुण्य और पाप। यदि पिता पुत्रकी पूछ करता है और पुत्र पिताकी पूछ करता है, तो वहाँ उनके पुण्योदयका फल है। शिष्य और गुरु जो परस्परका सम्बंध है, शिष्य गुरुका उपकार करता है और गुरु शिष्यका उपकार करता है, तो इन सबमें भी कारण पुण्य-पाप है। सभी लोगोंको प्रत्यक्ष हो रहा है कि जीव जीवका उपकार करता है। सूत्रजीमें बताया है कि 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह जीव एक दूसरेका उपकार करता है। यहाँ भी उपकारका अर्थ भलाई नहीं है किन्तु उन्हें किसी काममें लगाये रहना है, उनकी रुचि करना है अथवा उनके प्रतिकूल चलकर उन्हें विकल्प पैदा करना है। किसी भी प्रकार हो, जीव भी दूसरे जीवके भले बुरे होनेमें कारण हो जाया करते हैं। जैसे स्वामी सेवकको धन देकर उपकार करता है, सेवक स्वामीको कुछ हितोपदेश देकर उपकार करता है, सेवक स्वामीकी कुछ सेवा करके स्वामीका उपकार करता है। आचार्य शिष्यको उपदेश देकर उपकार करता है तो शिष्य आचार्यके अनुकूल चलकर आचार्यको राजी रखता है तो इसी प्रकार पिता पुत्रका परस्पर उपकार, स्त्री पतिके परस्पर उपकार, मित्र-मित्रका परस्पर उपकार पाया जाता है। उपकार भी होता है और इसके द्वारा एक-दूसरेका अनुपकार भी होता है। कैसे-कैसे द्वेषभावमें आकर जीव दूसरोंका बिगाड़ करता है, और दिखता भी है कि इस राग और द्वेषके कारण एक जीव दूसरे जीवकी परिणति कराता रहता है। कोई मित्र अपने मित्रका यदि विषय पदार्थोंका सम्बंध बनाकर उपकार करता है तो कहा तो जाता है उपकार, मगर बनाया क्या गया? अपकारका समागम।

पुण्य पापानुसार अन्य जीवोंकी सुख-दुःखके साधनोंमें निमित्तता होनेका वृत्त जानकर अपने भावोंके सुधारकी आवश्यकता—किसी कविकी दृष्टिमें यह कथन युक्त ही है कि किसीका यदि विरोध करना है, किसीसे बदला लेना है तो बजाये लड़ाई करनेके तृष्णाका कोई ऐसा संयोग मिला दिया जाये तो यह उसका बहुत बड़ा बदला होगा। जैसे एक कहानी है कि किसी सेठके पड़ोसमें कोई एक बढई रहता था। बढई गरीब था, लेकिन जो भी दो तीन रुपये रोज कमाता उनसे खूब अच्छा खाता पीता था, और सेठके यहां सीधा सादा भोजन प्रतिदिन बनता था। सेठानी रोज-रोज कहा करती थी कि देखो अपना पड़ोसी बढई गरीब होनेपर भी कितना

अच्छा-अच्छा खाता-पीता और मौजमें रहता है, पर आप सेठ होकर भी सीधा सादा खानपान रखते हैं। तो सेठने अपनी इस रोज रोजकी परेशानीको मिटानेके लिए क्या किया कि एक दिन शामको बढईके घरकी आंगनमें एक ९९ रूपयेकी थैली फेंक दी। सुबह जब बढईने पाया तो बड़ा खुश हुआ। उस दिन बढईने १) बचाकर थैलीके १००) पूरे कर दिए, अब उसे तृष्णा बढी। शतपतिसे हजारपति बननेकी इच्छा हुई। सो प्रतिदिन रूखा-सूखा खाकर धन कमाने और जोड़नेके चक्करमें पड़ गया। तो दुखिये-सेठने कैसा तृष्णाका संयोग मिलाकर बढईको हैरानीमें डाल दिया। लोकमें बान्धव मित्र लोग विषयकषायोंके साधन जुटाकर कितना परेशानीमें डाल रहे हैं। लेकिन उन्हें परेशानीमें डालने वाले लोगोंको ही ये मोही प्राणी अपना हितू समझते हैं। यहाँ बाह्यपदार्थोंके विषयोंमें किसीको लगा देना, वही उसके लिए दुःखका कारण है। ये ज्ञानी संतजन इन कुटुम्बीजनोंसे बढकर कुटुम्बी हैं। ये रागद्वेष अज्ञान मोहको त्यागनेका उपदेश करते हैं, शान्तिकी विधि बताते हैं, जिससे रागद्वेष हटते हैं, ज्ञानप्रकाश मिलता है, और यह जीव अपनेमें शान्तिका अनुभव करता है। तो उपकारका अर्थ इस प्रकरणमें भलाई न देना किन्तु कुछ भी काम कर देना, किसी भी काममें लगा देना इतना ही परस्परमें जीवोंका उपकार है। सो होता है यह सब, लेकिन इसमें प्रधान कारण अपने अपने ही पुण्य पापकर्म हैं। पुण्योदय होगा तो कुटुम्बके लोग भी पूछ करेगे और यदि पुण्योदय नहीं है, पापकर्मका उदय है तो कुटुम्बके लोग भी किनारा कर जायेंगे। इसके पुण्य पापको अपने आधारपर जानकर अपने परिणाम अच्छे रखें ताकि पापका बंध न हो और कभी इस परम्परामें ऐसा अवसर पायें कि धर्मध्यान बने, आत्मध्यान बने और कर्मबन्धनसे व सांसारिक दुःखोंसे सदाके लिए छुटकारा प्राप्त हो।

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती।

केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥ २११ ॥

पुद्गलके स्वरूप और सामर्थ्यका वर्णन—यहाँ पुद्गलका वर्णन चल रहा है कि पुद्गल द्रव्य कैसे होते हैं कितने भेद वाले हैं? जगतमें जो कुछ दिख रहा है ये सब पुद्गल है, और ऐसे भी पुद्गल हैं जो आँखों दिखते नहीं। जिनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाये उसे पुद्गल कहते हैं। उनमें कोई पुद्गल दिखते हैं कोई पुद्गल आँखों नहीं दिखते जैसे कर्म ये भी पुद्गल हैं। कर्मोंकी बात सभी लोग कहते हैं, कर्म, तकदीर, भाग्य, दैव आदि, किन्तु कर्मका क्या स्वरूप होता है, इस बातका वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। कर्म पौद्गलिक हैं, उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाता है, ऐसे कर्म कैसी शक्ति रखते हैं और ये दिखने वाले पदार्थ कैसी शक्ति रखते हैं उस बातका इस गाथामें वर्णन है। कहते हैं कि पुद्गल द्रव्यकी कोई अपूर्व ऐसी शक्ति मालूम होती है कि जिसके कारण जीवका केवल ज्ञानस्वभाव नष्ट हो गया है। जीवमें ज्ञानका स्वभाव है और स्वभावके कारण ज्ञानमें इतना विशाल स्वभाव पड़ा है कि जगतमें जो कुछ भी था, है, और होगा वह सब कुछ ज्ञान जान लेता है। तो इतने समस्त पदार्थोंको जाननेका स्वभाव होनेपर भी आज जीवमें यह ज्ञानस्वभाव प्रकट नहीं देखा जा रहा है। केवलज्ञान यदि होता तो कोई झगड़ा न था। यह मोह इस कम ज्ञानमें ही तो बनता है। कम ज्ञान हे, समझमें नहीं आता, स्वरूपका बोध नहीं, कुछ आगे पीछेकी मालूम नहीं, तो विकल्प करते हैं, परसे लगाव रखते हैं, केवलज्ञान होता है तब जब रागद्वेष मिट जायें, और केवल ज्ञान होनेपर तीनोंकाल, तीनों लोकके सर्व पदार्थ स्पष्ट ज्ञानमें आते हैं, उनके अज्ञान ही नहीं है। विकल्पोंका वहाँ किसी भी प्रकार मौका नहीं है, ऐसा ज्ञान हम आपके आज तो नहीं है।

आत्मस्वभावको विपरिणत कर देनेमें पुद्गलद्रव्यकी विलक्षण शक्तिका विवरण—सकलज्ञान हम आपके क्यों नहीं है? कोई दूसरी चीज हम आपमें साथ ऐसी लगी है कि जिसका निमित्त पाकर हम आप शुद्ध

ज्ञानमें नहीं है। तो ऐसा अन्तरङ्ग निमित्त है कर्म। कर्मका उदय होनेसे, ज्ञानावरण कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवका ज्ञानस्वभाव ढक गया है, और दिखने वाले जो ये पदार्थ हैं, सोना, रत्न, हीरा, माणिक, धन, धान्य, शरीर, स्त्री पुरुष, चेतन, अचेतन पदार्थ, इनमें भी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि जिसका आश्रय लेनेसे ज्ञानस्वभाव हमारा ढक गया है। जीव जब रागद्वेष करता है तो इसे जो वस्तु अच्छी लगती है उसमें राग करता है, क्यों अच्छी लगती है कि इसको अपने ज्ञानस्वभावका पता नहीं है और न आत्माका शुद्ध स्वभाव क्या है, इसकी वास्तविक करनी क्या है, न इसका भान है, तो बाहरी पदार्थोंमें लग रहा है, कहीं तो रमेगा यह जीव। जब खुदका नाम इसको रमनेके लिए न मिले तो यह बाह्य पदार्थोंमें रमता है। इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्ट वस्तुमें द्वेष करनेसे कर्मका बंध होता है और उस कर्मबन्धके कारण उनका उदय आनेपर नये-नये कर्म बाँधता रहता है, नये-नये जन्म और मरण करता रहता है। मरणमें शरीर मिलता है, शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंके द्वारा फिर इन विषयोंका उपयोग करता, उससे फिर इसे इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्ट वस्तुमें द्वेष होता है, बस रागद्वेषसे कर्मबन्ध, कर्मोदयसे रागद्वेष यह परम्परा अनादिकालसे चली आयी है। इससे इस जीवका जो वैभव है वह सब विकृत हो गया है।

विकल्प करके स्वयंके द्वारा शान्तिका विधात—आज यह स्थिति है कि शान्ति नहीं है, इस जीवको शान्ति नहीं है सो अशान्ति कोई दूसरी चीज नहीं पैदा कर रही, यह खुद ही कल्पनायें बनाता है और अशान्त हो जाता है। पड़ोसके लोग, बिरादरीके लोग, देशके लोग हमें कुछ समझें, हमारी इज्जत करें, इनमें मेरी पोजीशन रहे आदि ये सब व्यर्थके ख्याल बनाये जाते हैं। अरे इस जीवतत्वको समझने वाला यहाँ है कौन? मुझको समझने वाला यहाँ कोई नहीं है। और मान लो आज मनुष्य न होते, अन्य किसी भवमें होते, जैसे कि ये कीड़ा, मकौड़ा, वृक्ष, पृथ्वी आदिक, तो फिर ये कौन मनुष्य मुझे समझता? तो आज मनुष्य होनेपर भी जो मेरा अन्तःस्वरूप है उसको समझने वाला यहाँ कोई नहीं है, बाहरी नाक, आँख, कान आदिकको देखकर ही लोग नाम रखते हैं तो यहाँ कोई हमारा जानने समझने वाला नहीं है। किसको क्या पोजीशन दिखाना, किसको क्या करना? परिग्रह परिमाण व्रतमें बताया है। कि दूसरे विशेष पुण्यवानोंका वैभव देखकर अपनेमें पोजीशन बढ़ानेकी भावना करना और ऐश आरामके साधन जुटानेकी अभिलाषा करना इसको पाप बताया है। इससे अशान्ति मिलती है। यह अधर्म है।

परका व्यामोह छोड़कर अपनी सम्हाल करनेका अनुरोध—जैनशासनका उपदेश है कि गृहस्थजन न्यायवृत्तिसे काम करें और पुण्यानुसार जो उन्हें लाभ होता है उसके ही अन्दर अपनी व्यवस्था बनायें, लोकलाजको छोड़ दें कि लोग क्या कहेंगे ये बड़े गरीब हैं, इसकी पोजीशन साधारण है। अरे कहने वाले हैं, उनका मुख है, उनका भाव है, उनसे मेरेमें क्या बिगाड़ होता है? यदि अपने धर्मसे हम डिग गए, स्वभावसे हम चिग गए तो इसका फल यहाँ कोई दूसरा भोगेगा क्या? पाप करनेका बुरा फल होगा, जिनके लिए पाप किया जा रहा है अथवा जिनका लक्ष्य करके पाप किया जा रहा है वे कोई मददगार नहीं हो सकते। अपनी बात अपनेको सम्हालनी है। अगर सत्य बोध हो तो अशान्तिका कोई कारण नहीं। अशान्त होता है यह जीव परिग्रहके सम्बंधसे। और, परिग्रहकासम्बंध जुटाया है इस जीवने पर्यायबुद्धिसे। पर्यायसे भिन्न अपने आत्माके स्वरूपको निरख लिया जाये तो वहाँ अशान्ति नहीं है। दुनियामें कहीं कुछभी हो, कैसे ही परिणमन हों, वैभव आये अथवा जाये, कुछ भी बाह्य बात हो, उस परिणमनसे मेरा क्या सुधार बिगाड़ है, क्या सम्बंध हो? ऐसा अपने आपके स्वरूपकी ओर दृढ़ तो रहे, उसे अशान्ति नहीं हो सकती। तो यह ज्ञान नहीं है, रागद्वेषकी बुद्धि है उससे ये सब विडम्बनायें लग गई हैं, जो कठिन बन गई हैं, शरीरमें बँधे हैं, राग होता है, मरण होता है, जन्म लेना पड़ता है, नई-नई विपत्तियाँ आती रहती हैं, ये सब विडम्बनायें अज्ञानके

कारण ही तो हमने बनायीं। उस अज्ञानको नहीं मिटाना चाहते। उपादान दृष्टिसे तो जीव स्वयं अपने अपराधसे अज्ञानी बना है, लेकिन निमित्त दृष्टिसे यही बात ऐसी कैसी अपूर्व शक्ति है कि जिसके कारण जीवका ज्ञानस्वभाव नष्ट किया गया है। यहाँ तक पुद्गल द्रव्यका वर्णन किया। द्रव्यकी ६ जातियाँ बतायी गई हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तो पूर्वके दो द्रव्योंका वर्णन करके अब धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका वर्णन करते हैं।

धम्ममधम्मं दव्वं गमण-ट्ठाणाण कारणं कमसो।

जीवाण पुग्गलाणं विण्णिण वि लोग-प्पमाणाणि ॥ २१२ ॥

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यका स्वरूप धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य ये पदार्थ हैं पुण्य पापका यहाँ नाम नहीं है। जैसे पुद्गल कोई पदार्थ है ऐसे ही धर्मद्रव्य नामका भी पदार्थ है और अधर्मद्रव्य नामका भी पदार्थ है। ये पदार्थ बहुत सूक्ष्म हैं, इनका वर्णन करना बहुत कठिन है। यह स्वयं मैं नहीं हूँ इस कारण अनुभवसे भी इसे नहीं जान सकते। और यह अमूर्त है इस कारण इसे नहीं जान सकते। तब उपकार और कार्य निमित्तकी बात कहकर धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका स्वरूप बताया जाता है। धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव पुद्गल के गमनमें सहकारी हो। अधर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव पुद्गलके ठहरनेमें सहकारी हो, अर्थात् धर्मद्रव्यका उपकार है कि यह गमन और स्थितिमें कारण होता है। धर्मद्रव्य एक है और उतना बड़ा है जितना कि लोकाकाश है, लोकाकाशमें सर्व प्रदेशोंमें एक एक प्रदेश व्यापकर धर्मद्रव्य फैला हुआ है। इसी प्रकार अधर्मद्रव्य भी उतना बड़ा है, बस यह उदासीन रूपसे अपना सत्व रखता है और अपनी सत्तासे है, अपनेमें उत्पादव्ययध्रौव्य करता रहता है। अब उनका निमित्त पाकर जीव पुद्गल चलते हैं और ठहरते हैं। तो इस जीव पुद्गलके चलने और ठहरनेके निमित्तसे उत्पादव्ययका ज्ञान कराया जाता और वस्तुतः उनमें द्रव्य होनेके नाते स्वयं ही उत्पादव्यय हैं। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है, जैसे जीव है, मनुष्य है, आज तो मनुष्य रूपमें है और मरण करके देव हो गए तो मनुष्य रूपका तो विनाश हो गया और देवरूपका उत्पाद हो गया, फिर भी जीव वही रहा। तो ऐसे ही जो भी पदार्थ हैं, सबका स्वरूप है, वह अपने में नई अवस्था बनाता है पुरानी अवस्था विलीन करता है और दोनों अवस्थाओंमें भी ध्रुव रहता है। ऐसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य हैं।

धर्मद्रव्यकी गतिहेतुता धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलके गमनमें सहकारी कारण होता है; जैसे मछलियोंके चलनेमें जल सहकारी कारण है लेकिन जल मछलीको जबरदस्ती नहीं चलाता। मछली अगर ठहरे तो जल जबरदस्ती ढकेलता नहीं है कि तू ठहरी क्यों है ? मैं तो तेरे चलनेमें कारण यहाँ मौजूद हूँ। इससे मालूम होता है कि जल उदासीन कारण है, प्रेरक नहीं, मगर जलके बिना मछली चल नहीं सकती। इस कारण उसे कारण कहा है तो ऐसे ही धर्मद्रव्य जीव पुद्गलको जबरदस्ती चलाता नहीं है कि तेरे गमनका कारणभूत मैं यहाँ मौजूद हूँ, तू चलती क्यों नहीं है ? लेकिन धर्मद्रव्यके अभावमें जीव पुद्गल चल नहीं सकता। अलोकाकाशमें धर्मद्रव्य नहीं है तो वहाँ जीव पुद्गल नहीं जा पाया है। इसी प्रकार एक अलौकिक दृष्टान्त भी सुनो कि जैसे भव्य जीवोंको सिद्ध गति प्राप्त करनेके लिए भगवानका स्मरण कारण है, सिद्धगति कोई गतिका भेद नहीं है, किन्तु चारों गतियोंसे रहित जो अवस्था है उसको सिद्धगति कह लीजिए। निश्चयसे तो जो निर्विकल्प समाधिमें परिणत हुये जीव हैं, अर्थात् अपने उपादान कारणमें आये हुए जो जीव हैं उनको सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, फिर भी व्यवहारसे देखा जाये तो जब वे सिद्ध भक्ति कर रहे हैं, सिद्ध प्रभुका स्मरण कर रहे हैं उस सिद्धके समान अनंत ज्ञानादिक गुण स्वरूप हूँ यह भावना भी तो निरर्थक नहीं जाती, परम्परासे यही भावना शुद्ध अवस्थाका कारण बनती है, तो जैसे सिद्ध भगवान

अमूर्त हैं, वे मुझसे क्रिया नहीं कराते, मेरेको प्रेरणा नहीं देते, पर मैं सिद्धगतिके योग्य परिणति करूँ तो मेरी उस सिद्ध अवस्थाकी प्राप्तिमें, सिद्ध गतिमें वह सहकारी कारण बनता है, इसी प्रकार यह धर्मद्रव्य निष्क्रिय है, अमूर्त है, प्रेरणा नहीं करता, फिर यह जीव पुद्गल अपने ही उपादान कारणसे चले तो उनकी गतिमें सहकारी कारण होता है।

अधर्मद्रव्यकी स्थितिहेतुता—धर्मद्रव्यकी तरह अधर्मद्रव्य भी लोकाकाशमें व्याप्त है और वह जीव पुद्गलके ठहरनेमें सहकारी कारण है। जैसे मुसाफिरके ठहरनेमें वृक्षकी छाया सहाकारी कारण है। गर्मीके दिन हैं तेज धूप है, गर्मी खूब सता रही है, मुसाफिर चलते हुएमें यह इच्छा करता है कि कहीं मुझे छायादार पेड़ दिखे तो मैं उसने नीचे पहुंचकर आराम करूँ। कोई छायादार वृक्ष मिलता है, तो उसके नीचे वह ठहर जाता है। अब उस मुसाफिरको वृक्षने जबरदस्ती नहीं ठहराया कि मैं तेरे ठहरनेका कारण यहाँ मौजूद हूँ, तुझे ठहरना पड़ेगा, किन्तु उस मुसाफिरको स्वयं ही ठहरनेकी इच्छा थी तो उस मुसाफिरके ठहरनेमें वह वृक्ष कारण बन गया। ऐसे ही अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको जबरदस्ती ठहराता नहीं है कि तू चल क्यों रहा है, तेरे ठहरनेका कारण मैं यहाँ मौजूद हूँ, तुझे ठहरना पड़ेगा, किन्तु तो जीव पुद्गल चलते हुए ठहरना चाहते हैं, ठहर रहे हैं उनके ठहरनेमें सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। अथवा अलौकिक दृष्टान्त सुनो—वास्तविक स्वास्थ्य, वास्तविक कल्याण तो अपने स्वरूपमें ठहरनेमें है। यह जीव यदि अपने स्वरूपमें ठहर जाये तो इसके सारे संकट समाप्त हो जायें। कोई विकार न रहे, कोई इच्छा न रहे, फिर कोई अशांति नहीं, घबड़ाहट नहीं। किसी भी परद्रव्यको अपने चित्तमें बसाना योग्य नहीं, अपने ही स्वरूपमें ठहरना चाहिए। तो यह जीव अपने स्वरूपमें ठहरे उसका कारण है स्वसम्वेदन ज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दका अनुभव। मैं सिद्धसमान शक्तिसे शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ, अनन्तज्ञान आदिकसे समृद्ध हूँ, इस तरहका जो सिद्ध प्रभुका ध्यान है वह भव्य जीवोंको अपने स्वरूपमें ठहरनेका कारण बनता है। तो वे सिद्ध प्रभु प्रेरक नहीं हैं। जबरदस्ती नहीं करते, वे स्वयं चलकर ठहरने वाले नहीं हैं लेकिन भव्य जीवोंको अपने स्वरूपमें ठहरनेके लिए सिद्धस्मरण सहकारी कारण है, ऐसे ही समझिये अधर्मद्रव्य ठहरते हुए जीव पुद्गलके ठहरानमें सहकारी कारण है। ठहर तो रहे हैं अपने ही उपादान कारणसे, अगर अधर्मद्रव्य न हो तो ये ठहर नहीं सकते। जैसे कि अलोकाकाशमें अधर्मद्रव्य नहीं है तो वहाँ यह जीव पुद्गलकी स्थिति भी नहीं पायी जाती।

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्यका ऋषि संतोंकी वाणीमें प्रमाणिक वर्णन ये दोनों द्रव्य, (धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य) अमूर्त हैं। लोकाकाशके प्रदेशके बराबर हैं, असंख्यातप्रदेशी हैं। ऐसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यका लोगोंने ज्ञान तो नहीं किया, वैज्ञानिक भी स्पष्ट नहीं बता पा रहे हैं, हाँ गतिक्रियामें हेतुभूत किसी ईथर मेटरका अनुमान करते हैं, किन्तु वीतराग सर्वज्ञदेवके ज्ञानसे कुछ भी चीज बाहर नहीं। उनके उपदेश परम्परासे आचार्यसंतोंने बताया है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य इस लोकमें हैं और वे जीव पुद्गलके गमन करानेमें और ठहरानेमें सहकारी कारण होते हैं। यहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म इन चार द्रव्योंका स्वरूप कहा। अब आकाशद्रव्यका स्वरूप कहते हैं।

सहलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं।

तं आयासं दुविहं लोयालोयाण भेएण ॥ २१३ ॥

आकाशद्रव्यका स्वरूप—आकाशद्रव्य उसे कहते हैं जो समस्त द्रव्योंको अवगाहदे, स्थान दे। सभी चीजें कहाँ भरी रहती हैं ? आकाशमें। आकाशमें यह सामर्थ्य है कि यहाँ पदार्थ आते जायें। कहीं-कहीं तो पदार्थमें पदार्थ भी समा जाते हैं। तो इसमें मूल कारण तो आकाश है ही। पर उन पदार्थोंमें ऐसी विशेषता है कि वे पदार्थ दूसरे पदार्थका प्रतिघात नहीं करते। जो सर्व द्रव्योंको अवगाह देनेमें समर्थ है उसे आकाश कहते हैं। वह आकाश दो प्रकारका

है लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाशके स्वयं दो भेद नहीं हैं, आकाश तो अखण्ड एक द्रव्य है। कोई अकाशके टुकड़े कर सकता है क्या ? वह अखण्ड चीज है, पर उसमें यह विभाग बनाया है कि जिनती जगहमें छहों द्रव्य हैं उतनेको लोकाकाश कहते हैं, और जहाँ केवल आकाश ही है, अन्य कोई द्रव्य नहीं है उसको अलोकाकाश कहते हैं।

सर्वद्रव्योंमें अवगाहनशक्ति होने व न होनेकी एक जिज्ञासा—अब यहाँ एक शंकाकी जा सकती है कि बतलाओ सर्वद्रव्योंमें अवगाहना शक्ति है या नहीं ? जैसे राखमें पानी समा जाता है और उसमें सूई समा जाती है, तो एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ समा जाता है यह दिखनेमें आ रहा है तो उस ही का लक्ष्य करके या आकाशके स्वरूपके वर्णनके विरोधमें शंका की जा रही है कि इन पदार्थोंमें खुदमें अवगाहन शक्ति है या नहीं। अगर कहो तो अवगाहन शक्ति नहीं है तो कौन किसको अवगाह देता है सो बताओ ? और यदि है तो उसकी उपपत्ति बताना चाहिए। देखिये छहों द्रव्य अपना-अपना स्वरूप लिए हुए हैं और उनमें यह देखा जा रहा है कि जहाँ जीव है वहाँ पुद्गल भी समाये हैं, वहीं धर्मद्रव्य भी है। प्रत्येक प्रदेशपर छहों द्रव्य हैं, उनका अवगाह तो सिद्ध हो रहा है, तो यह अवगाह हो रहा है उसका कारण क्या है ? बताया गया है कि केवलज्ञानमें सारा लोकालोक समाया हुआ है आकाश द्रव्य तो अनन्तप्रदेशी है, वह केवलज्ञानमें समा गया है। आकाशके ठीक मध्यमें असंख्यातप्रदेशी लोक है और असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनन्त जीव समाये हैं। तो देखिये एक द्रव्यमें अनेक द्रव्य समाये हुए हैं ना! जीवमें जीव समाये हैं, जीवमें पुद्गल समाये हैं, और उन जीवोंसे अनन्त गुने पुद्गल हैं। एक द्रव्यमें कितने ही दूसरे द्रव्योंका अवगाह सिद्ध होता है। तो ऐसा अवगाह होनेमें कारण क्या है ? उस अवगाहकी उपपत्ति बतानेके लिए अब आकाश द्रव्यकी विशेषतया स्वरूप विश्लेषणकी जायेगी और बताया जायेगा कि किस तरहसे पदार्थका परस्परमें अवगाह है और परस्परमें अवगाह होकर भी सर्व वस्तुओंका एक आकाशमें ही अवगाह है। तो जो सर्व पदार्थोंको अवगाहित करे, ठहराये उसे आकाश कहते हैं।

सव्वाणं दव्वाणं अवगाहण-सत्ति अत्थि परमत्थं।

जह भसम पाणियाणं जीव-पाएसाण बहुयाणं ॥ २१४ ॥

वस्तुतः आकाशमें व अप्रतीघातरूपसे सर्वद्रव्योंमें अवगाहनशक्तिका वर्णन—यहाँ आकाशद्रव्यका लक्षण बता रहे हैं। आकाश उसे कहते हैं जहाँ सब द्रव्य समा सकें, जो दूसरोंको अवगाह देवे उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। यहाँ यह बात विचारना है कि अन्य द्रव्योंमें अवगाहन शक्ति है या नहीं, तो इसके समाधानमें कहते हैं कि सर्वद्रव्योंमें अवगाहन शक्ति है। एक द्रव्यमें दूसरा द्रव्य समा जाये ऐसी अवगाहन शक्ति है वास्तवमें। जैसे कि राख और पानीमें जहाँ पानी है वहाँ ही राख डालनेपर पानीमें राख समा जाती है अथवा जहाँ राख है उसमें पानी डालनेपर पानी समा जाता है तो इसी प्रकार एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्योंके अवगाहनेकी शक्ति है। निश्चयसे सभी द्रव्योंमें अवगाह शक्ति है; जैसे जल और भस्ममें, इसी प्रकार बहुतसे जीवोंका आकाशमें अवगाह जानें। जहाँ एक जीव है वहाँ अनेक जीव भी समाये हुए हैं, और सिद्ध स्थानमें तो जहाँ एक सिद्ध भगवान विराजमान है उस ही जगह अनेक सिद्ध विराजमान हैं। इस ढाई द्वीपके अन्दर ऐसी कोई जगह नहीं बची जहाँसे कोई मोक्ष न गया हो। प्रत्येक प्रदेशसे अनेक जीव मोक्ष गए। जिस स्थानसे एक जीव मोक्ष गया उसी जगहसे अनेक जीव मोक्ष गए। और, सिद्ध होनेपर उनकी गति सीधी होती है। तो जहाँ एक भगवान ऊपर बिराजे हैं वहाँ ही अनेक भगवान बिराजे हैं। तभी तो कहते हैं कि एक माँहि एक राजे एक माँहि अनेकनो। स्वरूप दृष्टिसे देखो तो एक भगवानमें एक ही रह रहा है दूसरा नहीं। जो भगवान दूसरे भगवानके ज्ञानसे नहीं जानते। आनन्द भी सबका अपने आपमें है।

तो एकमें एक ही है, पर व्यवहार दृष्टिसे, प्रदेशदृष्टिसे देखा जाये तो जहाँ एक भगवान हैं वहाँ ही अनेक भगवान हैं, तो वहाँ तो यह बात स्पष्ट है। यहाँ भी संसार अवस्थामें जहाँ एक जीव है वहाँ अनेक जीव भी समाये हुए रहते हैं। एक निगोद शरीरमें अनन्त जीव रहते हैं। तो प्रदेश वही है और वहाँ अनेक जीव रह रहे हैं तो एक स्थानमें अनेकका रहना सम्भव है। क्योंकि उनमें अवगाहकी शक्ति है। जैसे आकाशमें घट है, घटमें भस्म है, भस्ममें जल समा गया और उसहीमें सूई डालो तो वह भी समा जाती है। तो ऐसे ही समझिये कि सभी द्रव्य लोकाकाशमें परस्पर अवगाह रूपसे समा जाते हैं। जहाँ एक दीपका प्रकाश है वहाँ १०-५० दीप रख दिए जायें तो उनका भी प्रकाश समा जाता है तो इसी तरह समझिये कि सभी द्रव्योंमें परस्पर अवगाहनकी शक्ति है, लोकाकाशमें जितने प्रदेश हैं सभी प्रदेशोंपर छहों जातिके द्रव्य हैं। ये सब द्रव्य हैं तो वे प्रतिघात नहीं करते, इस कारणसे उनमें समानेकी बात कही है। वस्तुतः तो यह गुण आकाशका है। आकाशमें सभी पदार्थ समा जाते हैं।

जदि णं हवदि सा सत्ती सहाव-भूदा हि सव्व-दव्वाणं।

एक्केक्कास-पएसे कह ता सव्वाणि बट्टंति ॥ २१५ ॥

असंख्यातप्रदेश वाले लोकमें अनन्तानन्त पदार्थोंके समा जानेका कारण यदि सभी पदार्थोंमें परस्पर समा जानेकी शक्ति न हो तो एक आकाश प्रदेशपर इतने द्रव्य कैसे समा जायेंगे ? मूल प्रश्न यह था कि लोकाकाशके प्रदेश तो असंख्यात हैं, अनन्त नहीं हैं और इस लोकाकाशमें अनन्त तो जीव समाये हुए हैं। प्रदेश हैं अनगिनते, मायने जिनकी हद है और जीव इतने हैं जिनकी हद नहीं है और एक-एक जीवके साथ अनन्त कार्माणवर्गणायें लगी हैं, अनन्त शरीरवर्गणायें लगी हैं और वे सब अनन्तगुणी हैं, तो इतने प्रदेश थोड़ेसे प्रदेशमें समा कैसे गए ? सो उसका उत्तर यह है कि उन सब पदार्थोंमें एक दूसरेमें समा जानेकी शक्ति है। प्रदेशका लक्षण बताया है कि एक परमाणु जितनी जगहको घेरे उसे एक प्रदेश कहते हैं। एक क्षेत्रका छोटासे छोटा माप है प्रदेश। जैसे एक हाथमें २४ अंगुल होते हैं, एक अंगुलमें कई सूत होते हैं, तो ऐसे ही कमसे कमका माप है प्रदेश। एक परमाणु जितनी जगह घेर सकता है उसे एक प्रदेश कहते हैं। एक प्रदेशमें कई परमाणु रह सकते, पर एक परमाणु दो प्रदेशोंपर नहीं रह सकता। तो इतने छोटे स्थानका नाम है प्रदेश। अब अंदाज कीजिए कि सूईकी नोक यदि कागजपर गड़ा दी जाये तो कितना छोटा गढ़ा होता है, उस गढ़ेमें भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। तब समझिये कि एक प्रदेश कितना छोटा होता है, और उससे अंदाज लगाइये कि एक परमाणु कितना छोटा कहलाया। परमाणुको सूक्ष्म-सूक्ष्म कहा है।

परमार्थस्वरूपकी सुध न होनेसे अज्ञानीजनोंका मायाजालमें व्यामोह ये जो आँखों दिखते हैं ये सब स्कंध हैं, इन्हें माया कहते हैं। माया नाम उसका है जो सदा नहीं रहता। जो विकार है, विभाव है, नष्ट हो जायेगा, सकल बदल जायेगी वह सब माया कहलाती है। तो अज्ञानी जनोंकी प्रीति मायामें हो रही है वास्तविक वस्तुमें नहीं। वास्तविक पदार्थ तो इस पुद्गलका है परमाणु। एक परमाणुसे किसको मोह है ? एक परमाणुका तो लोगोंको पता भी नहीं है। लोगोंको जो कुछ यहाँ दिख रहे हैं सो मायारूप स्कंध दिख रहे हैं। वास्तविक वस्तुमें कोई मोह राग नहीं कर रहा। इस मायाजालसे ही जीवको मोह राग उत्पन्न हो रहा है। यदि इन पदार्थोंमें परमार्थ परमाणुको कोई तकने लगे तो उसकी दृष्टिमें यह माया हट जायेगी, उसे फिर मोह न रहेगा। तो समझिये कि परमाणु कितना छोटा होता है ? इसी तरह आगे आयेगा कालद्रव्यका वर्णन तो उसमें एक समय कितना छोटा कहलाता है यह बताया जायेगा। आंखके पलक जितना जल्दी जितने क्षणमें उठते गिरते हैं, एक पलकके गिरनेमें जितना समय लगता है उसमें अनगिनते समय हुआ करते हैं, तो ऐसे जो सूक्ष्म पदार्थ हैं उन पदार्थोंकी इन अज्ञानियोंको सुध नहीं है।

अब जीवमें भी देखो कि वास्तविक जीव क्या है ? जिसका परिचय है, यह मनुष्य है, गाय है, घोड़ा, है आदि जितने व्यवहार करते हैं, जितने परिचय रखते हैं वे सब जीवके सत्य स्वरूप नहीं हैं। जीव वास्तवमें क्या है, कितना है ? तो जीवको समझनेका आधार है ज्ञान, याने ज्ञानरूपमें यदि जीवको सोचा जाये तो जीवका परिचय मिलता है। अन्य उपायोंसे जीवका परिचय नहीं मिलता है। इन देहोंको देखनेसे जीवका परिचय नहीं मिलता और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह रागादिक भावोंपर ध्यान देनेसे भी जीवका परिचय नहीं मिलता। जीव उतना बड़ा है जितना कि शरीर। उस शरीरके माफिक जीवका विस्तार निरख जाये उससे भी जीवका अच्छा परिचय नहीं मिलता, जिस परिचयके बाद अनुभव हो जायेगा ऐसा परिचय अन्य उपायोंसे नहीं मिलता। एक इस अपनेको, जीवको ज्ञानमात्र रूपसे सोचिये केवल मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, जाननहार हूँ, चैतन्य हूँ, बस इतना ही मेरा काम है, यही मेरा अनुभवन है। यदि ज्ञानमात्र अपने आपको विचारा जाये तो उसमें जीवका परिचय मिलता है। तब जानें कि जीवके नाते हमने पहिले कुछ समझा कि यह जीव है पर उन सबमें वह जीवत्व नहीं दीखा। जीव इतना सूक्ष्म है कि वह केवल प्रतिभासमात्र, चैतन्यमात्र है। तो बतला यह रहे कि इन मोहियोंको जिसमें प्रीति उत्पन्न होती है वह सब मायाजाल है। यह शरीर, ये मनुष्य, ये पशु-पक्षी आदि सब मायारूप हैं, शाश्वत रूप नहीं हैं। तो क्षेत्रकी बात यहाँ कह रहे हैं कि आकाशमें सबसे छोटा माप है प्रदेश। प्रदेश है उतनी जगहका नाम जितनी जगहको एक परमाणु रोके, उसको प्रदेश कहते हैं। ऐसे ऐसे अनन्त प्रदेशात्मक यह आकाश है। यहाँ तक इस लोक भावनामें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशका वर्णन किया। अब कालद्रव्यका वर्णन करते हैं।

सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो।

एक्केक्कास-पाएसे सो बट्टदि एक्कको चव ॥ २१६ ॥

कालद्रव्यका स्वरूप—समस्त द्रव्योंके परिणामनको जो करे उसे काल कहते हैं। वह काल लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य ठहरा हुआ है। सभी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि समय व्यतीत होता है तो पदार्थकी अवस्थामें भी परिणामन होता है। कोई पुरुष जन्मा, अभी वह शिशु है, समय बीता उसका क्षय हो गया। जैसे-जैसे समय गुजरता है वैसे ही वैसे वस्तुका परिणामन होता रहता है वस्तुके परिणामनका निमित्त है काल। समय न गुजरे तो ये अवस्थायें नहीं बदल सकती हैं। सभी द्रव्योंमें परिणामन है। कोई द्रव्य परिणामनरहित नहीं है। होता ही वही सत् है जो प्रतिसमय परिणामन करे। जैनशासनमें वस्तुस्वरूपके ज्ञानपर बहुत जोर दिया गया है कि यदि अपना कल्याण करना है तो पदार्थोंका सही स्वरूप जानें। पदार्थका सही स्वरूप जाननेसे प्रभाव यह होता कि मोह अंधकार नहीं रहता। जीवको जितना भी क्लेश है वह सब मोहका है, अन्य कुछ क्लेश नहीं। सब पदार्थ हैं, परिणामनशील हैं, अपने परिणामनसे परिणामते हैं। तो दूसरोंसे मुझमें क्या आपत्ति आयी ? मैं स्वयंमें अज्ञान बसाये हूँ, विकल्प किए हूँ, वही मुझपर आपत्ति है। अब यह एक सिद्धान्तकी बात है कि मुझमें मोह हुआ कैसे ? उसमें कर्मोदय निमित्त है, कर्म और विभावका निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है, परवस्तुके स्वरूपपर दृष्टि दें तो यह विदित होगा कि पदार्थ प्रतिसमय परिणामनशील है और अपने इस स्वभावके कारण परिणामता रहता है। तो प्रत्येक द्रव्यमें परिणामन निरन्तर है, उसका कारण है कालद्रव्य। जीव और पुद्गल आदिककी जो पर्यायें होती हैं, नई जों, जीर्ण हों, विलीन हों या जो उनमें उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है सो उन अवस्थाओंका कारण है कालद्रव्य। जीवमें स्वभावपर्याय है, विभावपर्याय है, नारकी होता, कभी तिर्यञ्च होता, कभी मनुष्य होता, कभी देव होता, कभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विभाव पर्यायोंरूप बना, कभी छोटे बड़े स्कंधोंरूप बना, आदि, निमित्तदृष्टिसे इन

सबको करने वाला कालद्रव्य कहा है। कालद्रव्यका ही अपरनाम कालाणु है एक-एक प्रदेशपर एक एक कालाणु है और वह भी परिणामनशील है, उसमें प्रति समय नवीन नवीन पर्यायें बनती रहती हैं और उन समयोंका जो समूह है वह व्यवहारकाल है। जिसे कहते हैं मिनट, घंटा, दिन, वर्ष आदि यह व्यवहारकाल है। वास्तवमें तो एक पर्याय समय है और अनेक समयोंको जोड़ करके उसे व्यवहारकाल कहा है। यों कालद्रव्यके निमित्तसे सर्वद्रव्योंका परिणामन होता है।

धर्मादिक द्रव्योंमें परिणामन व उन परिणामनोंमें भी कालद्रव्यकी हेतुता—अब यहाँ विचार यह करना है कि जीव और पुद्गलका परिणामन तो समझमें आता है। जीवनका परिणामन इस समय समझमें आ जाता कि हम जीव हैं, हमपर परिणामन गुजरते हैं। उसका अनुभव होता है तो बुद्धि ठिकाने होती है, समझते हैं कि हममें बड़े विचित्र परिणामन हैं, क्योंकि सुखी दुःखी हो रहे हैं और समझ रहे हैं कि हम विकल्प करते हैं, विषयकषायके भाव करते हैं, उससे हम सुखी हैं, तो अपनेपर गुजर रही हैं ये बातें इस कारण अपना परिणामन समझमें आ जाता है। पुद्गलका परिणामन यों समझमें आता है कि ये स्थूल हैं, इनका परिणामन आँखों द्वारा देख रहे हैं, इन्द्रियोंसे हम जान रहे हैं, तो यहाँ कोई यह आशंका कर सकता है कि हमें तो केवल जीव और पुद्गलका परिणामन समझमें आ रहा है, उनमें ही कालद्रव्यका उपकार बतायें, पर धर्म अधर्म आदिक जो अमूर्तद्रव्य हैं उनमें परिणामन कैसे होगा ? सो इसके समाधानमें सुनो कि यद्यपि ये सब अमूर्तद्रव्य हैं किन्तु यह नियम है कि जो है वह नियमसे प्रति समय परिणामन करता रहेगा। तो धर्मादिक द्रव्य भी सत् हैं, उनमें स्वभावसे षड्गुण हानि बुद्धि होती है और जैसा अरहंत भगवानने बताया है कि प्रति समय वह अगुरुलघुत्व गुणके कारण परिणामता रहता है। तो उन सब परिणामनोंका कारण है समय और समय पर्याय है कालद्रव्यकी, ऐसा यह कालद्रव्य लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक ठहरा है, तो यह एक प्रदेशी है, असंख्याते काल हैं। कालद्रव्यकी वजहसे यह सब परिणामन हाते हैं। इस गायामें यह ध्वनित समझिये कि कालद्रव्यमें भी स्वयं परिणामेमी शक्ति है और सर्वद्रव्योंके परिणामनका वह कारण बनता है। लेकिन यहाँ यह जानना होगा कि प्रत्येक पदार्थमें परिणामनेकी स्वयंकी शक्ति है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वरूपसे परिणामता है, उस परिणाममान पदार्थमें सहकारी निमित्त कारण कालद्रव्य है।

णिय-णिय-परिणामाणं णिय-णिय-द्वं पि कारणं होदि।

अण्णं बाहिर-द्वं णिमित्त-मित्तं वियाणेह ॥ २१७ ॥

अपने-अपने परिणामनमें अपनी-अपनी अन्तःकारणता व अन्य बाह्यद्रव्योंकी निमित्तरूपता—प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने परिणामनका कारण खुद-खुद द्रव्य है, अन्य पदार्थ तो केवल बाह्यनिमित्त हैं। जैसे हम दुःखी होते हैं तो अपने अज्ञान मोहसे दुःखी होते हैं। हमारे दुःख परिणामनमें हम ही कारण हैं। अब इस दुःख परिणामनमें जो बाह्यद्रव्योंका प्रसंग बना, जिस आश्रयसे यह दुःखपर्याय उत्पन्न हुई है, ऐसे कुटुम्बीजन अथवा अन्य पुरुष या वैभव आदिक या शत्रु आदिक ये सब बाह्यद्रव्य निमित्तमात्र हैं। वही पुरुष जो इन बाह्यपदार्थोंकी कल्पना करता है, दुःखी हो रहा है। वह कल्पनाको त्याग दे तो उसका दुःख वहीं शान्त हो सकता है। जैसे एक कथानक है कि कोई राजा किसी दूसरे राजापर चढ़ाई करने जा रहा था तो रास्तेमें उसे एक जंगलमें कोई साधु महाराज दिखे। वह साधु महाराजके पास बैठ गया। साधु कुछ उपदेश देने लगे। कुछ देरमें शत्रुकी सेनाके शब्द सुनाई पड़े तो राजा कुछ सावधानसा हो गया, कुछ देरमें और भी शत्रुके शब्द सुनाई दिए तो राजाको और भी अधिक रोष उत्पन्न हुआ, वीरताकी मुद्रा उत्पन्न हुई, तो साधुने पूछा राजन्! यह क्या कर रहे हो ? तो राजा बोला महाराज मेरे निकट

ज्यों-ज्यों शत्रु बढ़ता आ रहा है त्यों-त्यों मेरा रोष और भी बढ़ता जा रहा है। तो साधु बोले राजन् ठीक ही कर रहे हो। शत्रुका नाश करना ही चाहिए, पर सबसे पहिले अपने अति निकट बैठे हुए उस शत्रुकाका नाश करो जो आपके अन्दर किसीको शत्रु माननेका भाव बना रहा है। राजाने कुछ विचार किया और आत्मचिंतन करके वहीं विरक्त हो गया। अब जो शत्रु सेना उसके पास आती है तो उस विरक्त संतको नमस्कार करके वापिस लौट जाती है। तो ये बाह्यपदार्थ हमारे सुख दुःखके कारण होते हैं, सो मात्र वे निमित्त हैं, पर हमारी परिणतिमें वास्तविक उपादान कारण हम ही हैं। क्रोध, मान, माया, लोभादिक पर्यायें होना, या नर नारकादिक पर्यायें होना, उनका कारण मैं हूँ। और पुद्गलमें शरीरकी रचना बने या स्कंधोंकी रचना बने उनका कारण उनका निज-निज द्रव्य है। कालद्रव्य तो एक बहिरङ्ग निमित्त कारण है। उपादान कारण तो प्रत्येक पदार्थके परिणमनमें उनका ही स्वयं स्वयंका द्रव्य है, सो वह काल अपने गुणोंके द्वारा अन्य द्रव्यको नहीं परिणमाता, परद्रव्यके गुणोंको अपनेमें नहीं परिणमाता, किन्तु उनमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। हाँ कालद्रव्यमें यह गुण है कि पदार्थोंके परिणमनमें वह कारण होता है।

अनके कारणोंके प्रसङ्गमें विभाव क्लेश होनेपर भी अपने क्लेशमें अपने अपराधके अन्वेषणका विवेक देखिये परिणमनमात्रमें कारण है कालद्रव्य, पर परिणमन विशेष होनेमें अन्य पदार्थ भी निमित्त होते हैं। जैसे हम आप रागद्वेषमें चलते हैं तो उसमें साधारण कारण तो कालद्रव्य है, लेकिन चेतन अचेतन पदार्थ, ये परिग्रह उसमें बहिरङ्ग आश्रयभूत है, और कर्मोंका उदय अन्तरङ्ग निमित्त कारण है। तो यों अनेक कारणोंके प्रसंगमें उस प्रकारके परिणमनेकी शक्ति रखने वाला पदार्थ स्वयं उस रूप परिणम जाता है। इस सम्बन्धमें हमें यह शिक्षा लेना है कि हम समझें जब कभी भी हम दुःखी होते हैं तो उस दुःखमें हमारा ही अपराध कारण है। हम दूसरेके अपराधसे दुःखी नहीं होते, जैसे कि लोग सोचने लगते कि अमुकने इस तरहका काम नहीं किया, मुझे बड़ा दुःखी कर दिया, यों जितने व्यवहार चलते हैं, मुझे ये बड़ा हैरान करते हैं। अरे कोई दूसरा पदार्थ मेरी हैरानीमें कारण नहीं है, हमारा ही अपराध हमारी हैरानीमें कारण है। हमारा अपराध क्या है ? हम रागद्वेष मोह करते हैं, यही हमारा अपराध है। अपराधका अर्थ ही यह है कि जहाँ आत्मसाधना न हो। हम राग करते हैं इससे दुःखी होते हैं। राग अपराधको छोड़ दें तो हमारा दुःख दूर हो जाये। दूसरी बात यह है कि ऐसा कर्मोदय आया क्यों हमपर कि जिससे हमको दुःखी होना पड़ रहा ? तो पूर्वकालमें हमने ऐसा ही रागद्वेष किया था जिसका निमित्त पाकर ऐसा कर्मबंध हुआ था कि जिससे आज दुःखी होना पड़ रहा। तो मेरे दुःखमें अपराध कारण हैं, अन्य पदार्थ मेरा ही मेरे दुःखी होनेमें कारण नहीं है।

सत्त्वविनिश्चय हम क्या हैं और जगतके ये दिखने वाले पदार्थ क्या हैं तथा इनका बर्ताव किस प्रकारसे है याने ये किस तरह परिणमन किया करते हैं, इन सब विधियोंका यथार्थ ज्ञान हो जाये तो उससे जो ज्ञानप्रकाश होता है उससे आत्माकी उन्नति होती है, इसीलिए लोकानुप्रेक्षामें सब द्रव्योंका वर्णन किया गया है, और इस समय कालद्रव्यके प्रकरणमें परिणमन विधि बतायी जा रही है। सबसे पहिले तो यह मानना ही होगा कि यह सब पदार्थ है, इनका सत्त्व है। कोई दार्शनिक तो ऐसे हैं कि जो यह कहते हैं कि पदार्थ कुछ हैं ही नहीं, सब शून्य है, जो कुछ दिखता है यह मिथ्या है। कल्पनावश सोच लिया है, जगतमें कहीं कुछ नहीं है। उनका सिद्धान्त इस बातपर आधारित हो सकता है जैसे जो दिखता है यह सब माया स्वरूप है, इसमें परमार्थतत्त्व नहीं है, जो आकार है, जो आँखों दिखते हैं मनुष्य पशु-पक्षी आदिक रूप ये सब मायारूप हैं, परमार्थ वस्तु नहीं हैं, इसी सकलमें रहने

वाले नहीं हैं। इसपर जब विचार करते हैं कि इसमें परमार्थवस्तु है क्या ? जो दिखता है उसमें परमार्थ तो है एक-एक परमाणु, जो द्रव्य है, जिसका विनाश नहीं होता, इन सकलोंका विनाश हो जाता है। तो जब ये सकल आकार यों नहीं रहते तो अवकाश मिला कहनेका कि यह सब झूठ है ? जब और भीतर चले तो परमाणुके निरंश स्वरूपका या जीवके चैतन्यस्वरूपका जब वर्णन किया जाता है तो वह इतना सूक्ष्म वर्णन है कि जिसको सुनकर सहसा यह लग सकता है कि बात है केवल, कुछ चीज नहीं है, जो विकल्पमें आये, व्यवहारमें आये, तो ऐसे धीरे-धीरे चलकर एक इस दार्शनिकको ऐसा लगा कि कुछ नहीं है, शून्य है, लेकिन शून्य नहीं है। कुछ भी न हो तो उसका मायारूप भी नहीं बन सकता। जो पर्याय है, विनश्वर है। जो बात भी हो, यदि मूलमें कुछ सत नहीं है। तो उसका यह मायारूप भी नहीं बनता।

पदार्थोंके विपरिणमनकी विधि—सब हैं, हम हैं, शरीर है, अन्य चीज हैं। अब इसकी विधि क्या है और परिणमते किस तरह हैं सो यह मानना ही होगा कि प्रत्येक पदार्थमें परिणमनेकी शक्ति है क्योंकि परिणमते तो वे ही पदार्थ हैं। जैसे जीव क्रोध करता, मान करता तो भले ही कर्मके उदयमें करता है लेकिन करता तो जीव ही है ना? परिणमना तो जीवको ही पड़ रहा है ना ? तो जीवमें उस प्रकारके परिणमनेकी शक्ति है, न हो तो परिणमन न होगा। तो सभी पदार्थोंमें यह मानना चाहिए कि उनमें परिणमनेकी शक्ति है। नई अवस्था उसके स्वयंमें बनती है, पुरानी अवस्था उनमें विलीन हो जाती है और वे परिणमने वाले पदार्थ सदा बने रहते हैं। चाहे किसी पर्यायरूपमें चलें,पर रहेंगे शाश्वत, क्योंकि सत् हैं। जो सत् है वह कभी मूलसे नष्ट नहीं होता। उसकी अवस्थायें बदलती हैं। तो मैं भी सत् हूँ और मैं कभी नष्ट होने वाला नहीं हूँ, अपनी अवस्थायें बदलता रहता हूँ। पदार्थमें यह स्वभाव ही पड़ा है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य हुआ करे। अब विशेष रूपका जो उत्पाद है, जैसे रागद्वेष हुआ तो इस विशेषतामें कारण अन्य कुछ भी है, अन्य निमित्तके बिना ये समस्यायें नहीं आ सकतीं। तो प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनकी शक्ति रखता है और उन सब पदार्थोंमें जीव और पुद्गल ये दो जातिके पदार्थ ऐसे हैं जो विकाररूप परिणमनेकी शक्ति रखते हैं। इनमें विभाव शक्ति है। जैसे आकाशद्रव्य है वह क्या विकार करेगा अपनेमें ? आकाशमें क्या बिगाड़ होगा ? कालद्रव्य है। कालमें स्वयंमें क्या बिगाड़ होगा ? यह तो उपचारसे कहते हैं कि समय खराब हो गया,पर समय अच्छा व खराब नहीं हुआ करता। जिस समयमें पदार्थ बुरे परिणमते हैं, अवनति होती है, अधर्म छा जाता है उसको कहते हैं कि काल खराब आ गया। आजकल बड़ी गड़बड़ियाँ चल रही हैं तो ये गड़बड़ियाँ समयमें नहीं हैं, किन्तु चीजोंमें हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनकी शक्ति रखता है, जब वह विकार रूप बनता है तो इसके विकार परिणमनमें बाह्य चीजें कारण बन जाती हैं। जैसे जीवका रागद्वेष बनता है तो रागद्वेष प्रकृतिका उदय तो है। निमित्त कारण और बाहरी पदार्थोंका संग है आश्रयभूत कारण और परिणमनेकी शक्ति इस जीवमें स्वयं है, यह है उपादान कारण। तो जब उपादान कारण योग्य है, काल लब्धि प्राप्त है, बहिरङ्ग कारण मौजूद है तब सब बातें समर्थ हैं, और इसे कहते हैं समर्थ कारण। इस स्थितिमें उस पदार्थको उस प्रकार परिणमना पड़ता है। उसके परिणमनको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं। जब इस तरह हम प्रत्येक पदार्थका स्वरूप जानते हैं, परिणमन समझते हैं तो बतलाओ कि कौनसी गुञ्जाइश है ऐसी जिससे यह कहा जाये कि इसका यह पदार्थ है।

मोहवश क्लेशका लगाव—मनुष्य मोहसे ही तो दुःखी हैं। हैं बिल्कुल भिन्न सब पदार्थ। मेरे आत्माका तो केवल मैं ही आत्मा हूँ, अन्य कुछ नहीं है मुझमें, लेकिन मान यह रहे कि यह मेरा घर है, यह मेरा परिवार

है, यह मेरी इतने लोगोंमें इज्जत है। तो ऐसा जो बाह्य पदार्थोंमें ममत्व है, राग है, यह है अपनी कल्पना। तो अपनी कल्पनासे हम दुःखी हो रहे हैं, बाहरी चीजोंसे दुःखी नहीं हुआ करते। इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग ये बड़े बिढगे दुःख हैं और प्रायः करके इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगका क्लेश पुण्यवान पुरुषोंको ज्यादा हुआ करता है, क्योंकि ठाठ उनको ही मिलते हैं, समागम उनको ही मिलते हैं, अब समागम मिले तो हर्ष किया। अब यह न्यायकी बात है कि उन समागमोंका वियोग होनेपर दुःखी होना पड़ेगा। जिन्हें वियोगका दुःख इष्ट न हो उन्हें चाहिए कि प्राप्तसमागमोंमें हर्ष न मानें, बल्कि अपना ज्ञान बनायें यदि समागमोंमें हर्ष मानते हैं तो यह नियम है कि वियोगमें उसको उस ही ढंगका उतने ही गुना दुःख होगा। तो यह बाह्य पदार्थ जब मेरे कुछ हैं नहीं तो उनको अपनाना यह तो अंधकार है, अज्ञान है और इस अज्ञानसे हम आप दुःखी हैं। हम आपको दुःखी करने वाला यहाँ कोई दूसरा पदार्थ नहीं है।

अपने स्वहितकी कामना—अब कुछ अपने आप पर अपनी बात घटित करिये। सभी लोग अपनी-अपनी ऐसी स्थितियाँ समझ रहे हैं कि कैसे रागसे छूटा जाये ? इतना वैभव है, ऐसा घर है, लोगोंमें इज्जत है, रिश्तेदार, मित्रजन, समाजके लोग सधर्मीजन सभी लोग हमारा परिचय पाये हुए हैं। ऐसी स्थितिमें इन सबसे कैसे विरक्त हुआ जाये ? तो भाई ज्ञानप्रकाश जिनके जगता है उनके लिए सारा परिचय अपरिचय बन जाता है। जिसे समझा कि लोग मुझे जानते हैं, यहाँ मेरी बड़ी इज्जत है, हमारे ऐसा वैभव है, हमारे ऐसे साधन हैं आदि, वे सब ज्ञानप्रकाशके होनेपर मिथ्या बातें प्रतीत होती हैं। मेरा यहाँ अन्य कुछ नहीं है, यह मैं आनन्दको लिये हुए हूँ और अनन्तकाल तक यही बात रहेगी, जब ऐसा बोध करता है जीव तो उसके लिए ये सब परिचय अपरिचय हो जाते हैं। वे सब परिचय स्वप्नवत् प्रतीत होने लगते हैं। तो किसी दूसरेपर हमारा भविष्य निर्भर नहीं है, हमारे ही परिणामपर हमारा भविष्य निर्भर है।

सतसङ्गतामें शान्तिकी असंभवता—आज पुण्यका उदय है, उस स्थितिमें धर्मकी कोई सुध न रखकर, आत्मज्ञानकी कोई बात न रखकर मनमाना विषयोंमें प्रवृत्ति रखकर, मनमाना मोह बनाकर रहा जाये तो ऐसा कब तक चलेगा ? पुण्योदयके मायने क्या हैं ? उदयका अर्थ है निकलना। जैसे कहा कि सूर्यका उदय हुआ तो इसका अर्थ है कि सूर्य निकल रहा है। पुण्यकर्मका उदय हुआ मायने पुण्यकर्म बंधा था पहिले शुभभावसे वह पुण्य निकल रहा है अब वह पुण्यरहित बन रहा है। पुण्यके निकलनेका नाम, बाहर होनेका नाम है पुण्यका उदय। तब इस दृष्टिसे यह समझिये कि जो ठाठ मिलते हैं वे पुण्यके निकलनेसे पुण्यके दूर होनेसे मिलते हैं, अगर पहिलेसे ही पुण्य दूर रहे उससे नहीं, किन्तु पुण्य बंधा हो और फिर वह पुण्य निकल रहा हो तो वहाँ इष्ट समागम मिलते हैं। इस स्थितिसे हमको क्या शिक्षा मिली ? पुण्य वैभव पुण्यके विनाशसे मिल रहा है। यदि पुण्य संचय न किया जाये तो पुण्यका निकलना तो जारी है, निकल रहा है और वह एक ही तो पुण्य नहीं है, अनेक वर्गणायें बराबर निकल रही हैं। तो पुण्यके निकलनेमें सब वैभव मिले,पर यह निकलता ही रहे, कुछ नया संचय न आये तो क्या उसका भविष्य होगा कि निकट समयमें ही इन सबसे हाथ धोना होगा और दुर्गति सामने आयेगी। तो भले ही कितना ही वैभव मिला हो, कैसे ही परिजन हों, प्रथम तो लोग इसमें सुखी नहीं है, कुटुम्ब मिला है उसमें भी लोग शान्त नहीं हैं, विकल्प है, करनेका भाव बनाया है, कोई विपरीत चल रहा है उसका दुःख हो रहा है, कोई अनुकूल चल रहा है तो उसके प्रति यह ध्यान बना रहता है कि मैं इसके लिए ऐसा उपाय बना दूँ कि यह सदा सुखी रहा करे, उसके लिए फिर परिश्रम करना पड़ रहा है। तो इष्ट समागमोंमें शान्ति नहीं है, सुख नहीं है। और

मान लो कल्पनासे सुख मान लिया तो जितना मौज माना जायेगा उससे कई गुना दुःख उत्पन्न होगा, क्योंकि इस संयोगका ऐसा ही स्वभाव है कि जो पदार्थ मिले हैं उनका वियोग अवश्य होगा। वियोग हो जानेपर चीज मिले या न मिले, वहाँ तो नियम नहीं है, पर संयोग होने पर वियोग नियमसे होगा। तब बुद्धिमाननी इसमें है कि ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसा उपाय बनायें, ऐसी धुन बनायें कि हम अपने आपके सही स्वरूपको जान जायें। उसमें हमारी रुचि बन जाये। इसमें जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा उसकी तुलना लोकमें अन्य किसी घटनासे नहीं है।

असहयोग उपायसे आत्मसाम्राज्यके अधिकारित्वका निर्णय—आत्मानुभूति कैसे हो, आत्माका अनुभव कैसे प्राप्त हो? इसके बड़े सरल उपाय दो हैं। हमें अपने आत्मामें बसे हुए परमात्मस्वरूपका दर्शन हो, इसके सरल उपाय दो हैं—जिन विधियोंको करके हम आप इस जीवनमें उस परमात्मतत्त्वके दर्शन कर सकते हैं। दर्शन आँखोंसे न होगा। दर्शनके मायने अनुभव। वे उपाय क्या हैं? उन उपायोंके करनेसे पहिले इतना ज्ञान तो कर लेना जरूरी होगा कि इस मेरे आत्माका दुनियामें कोई साथी नहीं है। यदि रुचिपूर्वक इसका ज्ञान किया जा रहा है तो विदित होगा कि कोई भी मेरा साथी नहीं है। जितने यहाँ परिचित दिखते हैं वे सब स्वार्थके साथी हैं। मित्र हों, रिश्तेदार हों, परिजन हों, जहाँ जिसका स्वार्थ है वहाँ वे कुटुम्बी या रिश्तेदार उसे मानते हैं और जहाँ स्वार्थमें विधाता होता है उसी समय वह इस दृष्टिसे देखने लगता कि जैसी दृष्टिसे गैरोंको भी नहीं देखता। हर एक घटनामें यही बात जान लें कि आत्माका साथी कोई दूसरा नहीं है। जब कोई यहाँ मेरा साथी नहीं और मुझ आत्माको सब कुछ अकेले ही भोगना पड़ता है तो ऐसा साहस जगायें, अपने दिलको ऐसा आराममें ले जायें कि ऐसा अन्तः यत्न करें कि कोई भी पदार्थ दिलमें न आ पाये। इसपर तो अपना कुछ वश चल सकता है। अगर किसीका ख्याल आता है तो झट यह ध्यानमें आये कि यह सब तो व्यर्थका विकल्प है, ये कोई भी मेरे साथी नहीं है। यों आने वाले उस ख्यालको चित्तसे हटा देना होगा। उस समय यह ध्यानमें लायें कि ये व्यर्थके विकल्प तो मेरी बरबादीके ही कारण हैं, संसारमें जन्म मरणकी परम्परा बढ़ानेमें कारण हैं, किसी भी परपदार्थको मैं अपने चित्तमें न बसाऊँ, ऐसा अन्तः प्रयत्न करना होगा। यद्यपि इस प्रयत्नके करनेमें कुछ कठिनाईसी लग रही होगी, लेकिन इसे कोई करनेपर उतारू हो जाये तो इस उपायको वह कर सकता है। लोग अपने चित्तमें बसाये रहते हैं, अरे कभी किसी क्षण ऐसा ध्यान तो बनायें कि अब तो किसी भी परपदार्थको मुझे अपने चित्तमें नहीं बसाना है। यदि किसीने ऐसा अन्तः पुरुषार्थ करके सर्व प्रकारके बाह्य विकल्पोंको कुछ क्षणके लिए अपने चित्तसे हटा दिया तो वह एक बहुत बड़ी बात है।

सत्यके आग्रहके उपायसे आत्मसाम्राज्यके अधिकारित्वका निर्णय—एक तो भैया! परसे असहयोगका अन्तः प्रयत्न होना चाहिए, और दूसरा प्रयत्न जो बतायेंगे वह भी इसीका सहयोगी है, वे एक दूसरेके परस्पर सहयोगी हैं। दूसरी बात यह है कि अपने ज्ञानको अपने भीतर निरखनेके लिए पहुँचाइये। जिस ज्ञानके द्वारा हम बाहरकी चीजें जाननेका यत्न करते हैं। क्या है, पदार्थ किसी ढंगका है, जिसे बाहरमें हम जाननेका प्रयत्न करते हैं, अब यह यत्न न करके कुछ भीतर जाननेका यत्न करें कि मैं हूँ क्या? अब उसे सोचिए केवलज्ञान ज्ञान, केवलज्ञानन, ज्ञानज्योति और जाननमात्र है, बस वही मैं हूँ। वह जानन क्या? प्रतिभास। केवल जाननमात्र। अभ्यासकी आवश्यकता है, यह सब बात एक दिनमें नहीं होती। रोज-रोज इसका अभ्यास हो तो कोई समय ऐसा आयेगा कि हम अपने उस जाननस्वरूपको अपने ज्ञानमें ले सकेंगे। मैं ज्ञानमय पदार्थ हूँ, केवल जाननमात्र हूँ, अन्य रूप मैं नहीं हूँ, बस एक यही धुन बने। अग्रवाल, जायसवाल, खण्डेलवाल, मनुष्य, स्त्री, पुरुष आदिक ये मैं नहीं।

मैं तो एक वह सत् हूँ जो चैतन्यस्वरूप है, केवल चैतन्यप्रकाशमात्र है। देखिये उस परमार्थकी बात कही जा रही है, अन्य सब बातोंका वहाँ निषेध करना है। मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हूँ, जाननरूप हूँ बस यही धुन बनायें और अपनेको जाननरूपमें निरखनेका भीतरमें यत्न बनायें, ये दो उपाय ऐसे सरल हैं कि आप मनमें ठान लें तो अभीसे करना शुरू कर सकते हैं। लोकमें कितने द्रव्य हैं, कैसी रचना है, ये बातें नहीं बतायी जा रही हैं, उनके अध्ययनमें तो बड़ा समय लगता है, अगर थोड़ासा विवेक हो और इन दोनों उपायोंको कर लें तो अपनेमें अपनी अनुभूतिको पा सकते हैं।

उपाय द्वारा स्वानुभूतिकी साध्यता पशुओंमें हाथी, शेर, नेवला, बंदर आदि भी जब सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेते हैं, स्वानुभूति कर लेते हैं, तो हम आप विशिष्ट मन वाले स्वानुभूति न कर सकेंगे क्या? स्वानुभूति हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता। जब भी सम्यक्त्व होता है स्वानुभूतिपूर्वक होता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय स्वानुभवको लिए हुए रहता है, इसके बादमें फिर स्वकी अनुभूति रहे या न रहे, सम्यक्त्व रहेगा, प्रतीति रहेगी। तो जब इन पशु पक्षियोंको भी स्वानुभूति हो जाती है, जिन्होंने न कोई अक्षर ज्ञान किया, न कोई पदवाक्य जानते हैं, कोई भाषा इनकी नहीं है, न कभी ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं, वे बेचारे कुछ बोल भी नहीं सकते, जिह्वा भी उनकी ऐसी नहीं है कि जिससे अक्षरात्मक भाषा बन सके, फिर भी मन है, भीतर ही भीतर ज्ञान है, वे पशु-पक्षी विवेक कर सकते और स्वानुभूति कर सकते हैं, तब मनुष्यजन स्वकी अनुभूति न कर सकें यह बात क्यों सोची जाये? हम आपके स्वानुभव हो सकता है, उसके उपायमें लगे। अन्य उपायोंमें तो जीवकी बरबादी ही है, क्योंकि इष्ट समागम मिल गया जो चाहता है वे पदार्थ मिल गए, उनमें फिर तृष्णा बढ़ेगी, उन प्राप्त समागमोंका फिर बिछोह होगा, बिलगाव होगा तो उसमें दुःख माना जायेगा। तो यहाँका संयोग भी दुःखका कारण है और वियोग भी दुःखका कारण है। इन बाह्य पदार्थोंका ख्याल ही अपनेको दुःखका कारण है। इन बाह्य पदार्थोंमें अपनेको रमाना प्रकट क्लेश है। अतः इनमें रमना योग्य नहीं। इन दोनों उपायोंको अगर सुसंस्कृत भाषामें कहा जाये तो यों कहा जायेगा असहयोग और सत्य ग्रह, समस्त बाह्य पदार्थोंका तो असहयोग हो और अपने आपका जो चैतन्य स्वरूप है, अपनी ही सत्ताके कारण जो अपनेमें स्वरूप है उसका किया आग्रह मैं ज्ञानरूप ही हूँ। तो इन दो उपायोंसे आत्माकी अनुभूति प्राप्त होगी और ऐसा उपाय प्राप्त होगा कि जिस आनन्दमें वह सामर्थ्य है कि भव-भवके बांधे हुए कर्मोंको दूर किया जा सकता है।

पुण्य और पापके फलोंसे उपेक्षा करके स्वानुभूति लाभ लेनेका सन्देश पुण्य और पाप ये ही इस जीवकी अशान्तिके हेतु हैं, क्योंकि इनमें शान्तिका माद्दा नहीं पड़ा हुआ है। पापका उदय भी देखिये किसी मुनिके ऊपर उपसर्ग आ रहे हैं, शेर भख रहे, स्यालिनी भख रहे, शत्रु छेद रहे, इसमें उनका पापोदय ही तो कहा जायेगा। ये कोई पुण्योदय काम तो नहीं हैं, लेकिन ऐसे पापके उदय होनेपर भी यदि वह मुनि अपने धर्मभावको संभाले हुए है तो वह कैवल्य प्राप्त कर लेता है और पुण्यके समागम-कितने ही आरामके साधन मिले हों जैसे अनेक चक्रवर्ती उनके विषयके साधनोंकी बात क्या कहना। कितना ही वैभव था उनके पास, कितनी बड़ी इज्जत थी, जिनका व्रदन बड़े-बड़े राजा लोग करते थे, जिनके पास हजारों रानियाँ थीं, सब प्रकारके सुखके (मौजके) साधन थे, लेकिन अन्तमें देखिये उन चक्रवर्तियोंकी क्या गति हुई? मरकर नरक गये। तो पुण्य पाप फलोंकी अपेक्षा करके एक भीतरमें अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान बनायें, उसका आग्रह करें बाह्य वस्तुओंका अपने चित्तसे हटाये तो वहाँ स्वानुभूति उत्पन्न होगी और उससे ही शान्ति प्राप्त होगी। शान्तिका उपाय सिवाय आत्मप्रबोधके अन्य कुछ हो ही

नहीं सकता, अतः स्वाध्याय, अध्ययन, मनन, तत्त्वचर्चण आदि पौरुष करके आत्मतत्त्वका परिज्ञान करें और आत्मतत्त्वकी दृष्टि दृढ़ करके स्वानुभूतिका परमलाभ लें।

**सव्वाणं दव्वाणं जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं।
सो चिय कारण-भावो हवदि हु सहयारि-भावेण ॥ २१८ ॥**

अन्योन्य उपकारमें अन्यकी बाह्य सहकारीकारणता जगत्में यह देखा जा रहा है कि एक द्रव्यके निमित्तसे दूसरे द्रव्यके काम बन जाते हैं, तो यहाँ जो समस्त द्रव्योंका परस्पर उपकार होता है सो वह सहकारी भावसे कारण भाव है उपादानसे नहीं। वस्तुके निज स्वरूपपर दृष्टि दें, तब तो वहाँ सिर्फ इतना ही विदित होगा कि वस्तु है और उसमें परिणमनेका स्वभाव है सो अपने योग्यतासे अपनेमें परिणमन करता चला जाता है। कोई इस बीच यदि ऐसा प्रश्न कर दे तो फिर दूसरे पदार्थकी कोई बात न रही तो इस दृष्टिमें जबकि केवल एक वस्तुपर ही दृष्टि रखकर कहा जा रहा और कोई जरा छेड़ दे तो उस समयकी दृष्टिकी धाराके कारण यह उत्तर होगा कि उस समय बाहरके जो द्रव्योंका सम्बंध है वह निमित्त मात्र है। अब दूसरी दृष्टिमें आकर देखें कि किस तरहसे ये सब कारण कार्यविधान चल रहे हैं, तो यह बस प्रतिनियत व्यवस्था विदित होती है। केवल इतने मात्रसे उत्तर नहीं बनता कि परिणमते हुए पदार्थके सामने जो चीज हो उसे निमित्तमात्र कहते हैं। केवल इस विधिसे बात न बनेगी, क्योंकि यहाँ प्रतिनियत व्यवस्था देखी जा रही है ऐसे ही पदार्थ निमित्त हों तब यहाँ ऐसा ही कार्य होता है। यदि इसमें अव्यवस्था होती कि कभी उस पदार्थके कारण और तरहका कार्य बने कभी और तरहका कार्य बने तब तो यह कहा जाता कि जो सामने था उसे निमित्त कह दे, अथवा इतना भी कहनेकी जरूरत क्या है? लेकिन जब प्रतिनियत व्यवस्था लोकमें देखी जा रही है तो कारण और कार्यका सयुक्तिक निर्णय करना पड़ेगा और वह सयुक्तिक निर्णय यही है कि परिणमने वाले पदार्थकी जैसी शक्ति है उस योग्यताके अनुसार अनुकूल बाह्य निमित्त मिल जायें तो वहाँ परिणमन हो जाता है। यह बात हर जगह घटाते जाइये।

कारणकार्यविधिके कुछ उदाहरण—गुरुने शिष्यका उपकार किया, उपदेश दिया, और शिष्यमें ज्ञान उत्पन्न करनेमें वह कारण बना, तो वहाँ जो ज्ञान बना ऐसी जो शिष्यमें योग्यता थी उस तरहका ज्ञानप्रकाश करनेकी पात्रता थी तो अन्तरङ्ग कारण तो शिष्यका ही सामर्थ्य रहा। उसके ही कारण उसका ज्ञान बना, पर बहिरङ्ग कारण गुरुका उपदेश आदिक प्रयत्न रहा, क्योंकि वहाँ विकासकी योग्यता तो उसके थी और गुरुने समझाया तो उस प्रसंगमें आकर उसने अपनी सामर्थ्यका विकास किया। तो यह प्रतिनियत व्यवस्था है। जैसे घड़ा बना मिट्टीमें ही, उस मिट्टीमें घड़ा बननेका सामर्थ्य था तब ही तो बना। रेतमें अथवा अन्य पथरीली मिट्टीमें तो घड़ा बन जाता, जब मिट्टीमें घड़ा बननेकी योग्यता थी उसीमें बना। तो अन्तरङ्ग कारण तो उस मिट्टीकी योग्यता कही जायेगी, जिन-जिन प्रसंगोंमें बना, वे प्रसंग प्रतिनियत व्यवस्था रखते हैं। कुम्हार प्रतिदिन निःशंक होकर उसी विधिसे घड़ा बनाता है, इससे सिद्ध है कि वे सब बहिरङ्ग कारण हैं और नियमित हैं तो वह मिट्टी अपनी योग्यतासे घटरूप बन गई। सर्वत्र ऐसा ही कार्य कारण विधान है। जीवमें जो रागद्वेषादिक भाव होते हैं, जितने भी विकल्प होते हैं सो इस जीवमें उन विकल्पोंके करनेका सामर्थ्य है तभी तो विकल्प हुए।

ये रागद्वेष मोह विकल्प आदि सभी प्रकारके इन विभावोंको रच सकनेका इस जीवमें सामर्थ्य है। तो अन्तरङ्ग कारण तो जीवका उपादान कहलाया। पर कर्मोदयके बिना ये बातें नहीं होतीं। उस प्रकारका कर्मोदय तो जीवमें राग होता, द्वेष होता। तो वहाँ कर्मोदय निमित्त कारण हुआ। और, कर्मोदय निमित्त है, पर कर्मके फलको

पानेके लिए बाह्य नोकर्म भी हुआ करते हैं। अगर बाह्य नोकर्म बिल्कुल न रहें तो वह उदय अन्य रूपोंमें फल देकर चला जाता है। तो इसका नोकर्म है बाह्यपदार्थ अर्थात् बहिरंग सहाकारी कारण हैं वे। इसी तरह मित्र, सखी, पुत्रादिक, वैभवादिक चेतन अचेतन पदार्थ बाह्य आश्रयभूत कारण हैं। हम लोगोंके जो राग हुआ करते हैं उनमें उपादान कारण तो हम खुद हैं, निमित्त कारण कर्मका उदय है और आश्रयभूत कारण बहिरंग सहाकारी कारणमात्र हैं ये चेतन अचेतन पदार्थ।

अपने क्लेशोंमें अपने अपराधकी निरख—उक्त समस्त विवेचनोंसे यह निर्णय करना कि ये समस्त रागादिक विभाव हमारे दुःखके कारण हैं, इन दुःखोंमें अपराध तो हमारा ही मुख्य है। हम चेतते नहीं, असावधान हैं, या पहिलेसे हमने ऐसा ही खोटा संस्कार रचा है कि हमें दुःखी होना पड़ता है। बड़ेसे बड़े पुण्यवान जीव भी रागद्वेषसे दुःखी हुए। श्री रामचन्द्रजी, जिनकी अलौकिक महिमा थी, जो आज भी पुरुषोंके द्वारा स्मरण किए जाते हैं उनको भी कर्मका उदय आनेपर सीताका वियोग, लक्ष्मणका वियोग आदि अनेक घटनायें जीवनमें आयीं। तो बड़े-बड़े पुरुषोंके भी ये स्थितियाँ बन जाती हैं। तब यहाँके इन प्रसंगोंमें सुखकी क्या आशा करना? ये सब सुख स्वप्नवत् विदित हो जाते हैं जब काल गुजरता है। जैसे अबसे पहिले वर्षोंके ही समागम विषय भोग, सुख, मौज ये सब आज स्वप्नवत् लग रहे हैं ना। क्या था, कुछ न था, भ्रम था। तो इसी तरह समझिये कि आज जो कुछ समागम मिल रहे हैं वे सब असार हैं स्वप्नवत् हैं। भीतरमें आत्माके ऐसा ज्ञानप्रकाश है कि यदि वह अपने भीतर सम्हाल करे और ज्ञानभावका स्पर्श कर ले, अनुभव कर ले तो इस जीवको अलौकिक अद्भुत आनन्द होता है। बाहरमें इस जीवका क्या रखा है? सब धोखा है, छल है, भ्रम, बरबादी है। तो ये जितने विभाव हाते हैं, ये हमारे बाह्य कारणोंके बीच होते हैं तब तो ये मायाजाल हैं, भ्रम है, विनश्वर हैं, असार हैं।

निर्विकल्प परिणामनका आदर—केवल कालद्रव्यका निमित्त पाकर अन्य कोई कारण न आये, अपने आपमें जो स्वानुभवका आनन्द प्रकट होता है वही सारभूत है। लोग तो विशेषके लिए ललचाते हैं, यह पुरुष विशेष है, यह काम विशेष हुआ। विशेष विशेषकी तृष्णा रखते हैं, पर ऋषि संतजन कहते हैं कि उस विशेषका व्यामोह छोड़ो, अपने आपका जो अपनी ज्ञानज्योतिका अनुभव है, जो इन विकल्पोंकी अपेक्षासे सामान्यस्वरूप है उसका आदर करो। अज्ञानी जनोंको इस आत्मस्वरूपका परिचय नहीं है और इसी कारण जो मुद्रासहित पदार्थ हैं उनमें ही इसकी रुचि बनती है। यह अन्तस्तत्त्व कैसे आये अनुभवमें, यह शब्दमय तो है नहीं कानोंसे सुन लिया जाये, कुछ भीतर आवाज समझ ली जाये कि कैसा आत्मा है। आत्माका रूप तो है नहीं जो आँखोंसे परख लिया जाये कि आत्माका काला, पीला आदिक कैसा रूप है? आत्मा गंधवान पदार्थ भी नहीं है जो नासिका द्वारा जाना जा सके। आत्मामें रस भी नहीं है जो रसनाइन्द्रिय द्वारा परखा जा सके, और स्पर्शइन्द्रियके द्वारा भी यह आत्मा छूनेमें नहीं आता। आत्मामें स्निग्ध रूक्ष आदिक भी नहीं है। तो इन्द्रियाँ असफल हैं इस आत्मतत्त्वके समझनेमें। मन एक भीतरी इन्द्रिय है तो यह बहुत कुछ आत्मतत्त्वके समझनेमें सफल तो होता है, पर जिसको कहा गया है आत्माका साक्षात् दर्शन अनुभव, स्वानुभव, उस समय इस मनका व्यापार नहीं है। यह मन इस आत्मानुभूतिके अर्थ बहुत कुछ काम कर लेता है, पर ऐन टाइम जब कि आत्माका अनुभव हो रहा हो उस समय यह मन छुट्टी पा लेता है, एक अद्भुत अनुभव है आत्माके ज्ञानस्वरूपका अनुभव करना, मनने बहुत कुछ कार्य किया, स्वपर विवेक बनाया। इस भावमनके द्वारा हमने वस्तुस्वरूपको समझा, जाना, और इसमें तर्क-वितर्क भी किया, स्वलक्षणकी पहिचान भी किया, मगर जिसे कहते हैं ज्ञानानुभव, ज्ञानमें केवल ज्ञानस्वरूपका समाजाना यह है निर्विकल्प

अनुभव। मनका काम विकल्प करनेका है, उस समय मन किस स्थितिमें आ जाता है और किस स्थितिमें रहकर वह अपना अस्तित्व बनाये रहता है, वह एक बड़े रहस्यकी चीज है। वहाँ स्वानुभूतिके समयमें आत्माको केवल उस ज्ञानके सत्यस्वरूपका परिचय हो रहा है। तो ऐसे परिणमनके अनुभवनमें कालद्रव्य निमित्त हो रहा है, और यह बात तो है किसी थोड़े क्षणकी बात। सिद्ध भगवान जो शाश्वत शुद्ध हैं, उनका जो परिणमन है वह धर्मादिक द्रव्योंमें परस्पर जो कार्य कारणभाव है वह सहकारी कारणपनेसे है, दूसरा कहीं उपादान कारण नहीं बन जाया करता है। यहाँ परखना है अपनेको यह कि मुझे अपने आपका निर्णय करना चाहिए और यहाँ ही कोई काम करना है जिससे कि हमारा उद्धार होगा, शान्ति प्राप्त होगी। तो इस प्रसंगमें बताया जा रहा है कि लौकिक, अलौकिक आदि जो सभी तरहके कार्य हो रहे हैं उनमें अन्य द्रव्यका परस्पर सहकारी कारणभाव है।

**कालाइ-लब्धि-जुत्ता णाणा-सत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥**

समर्थ कारणके होनेपर कार्यकी अवश्यंभाविता—अब इस गाथामें बताते हैं कि यह कारण कार्य विधान प्रतिनियत है कि जिसके बलपर ये समस्त कार्य हो रहे हैं। कार्य होनेमें एक तो काललब्धि चाहिए। काललब्धि कोई अलग वस्तु नहीं। जिस कालमें वे समस्त कारण जुटे जाते हैं जिसे समर्थ कारण कहते हैं तो उसको काललब्धि कहते हैं; अर्थात् अंतरङ्ग कारण सही हो, बाह्य निमित्त कारण मिलें और जितने सहाकारी कारण चाहिए वे उपलब्ध हों तो ऐसी स्थितिमें कार्य नियमसे होता है, इसी बातको इस विधिमें बताया जा रहा है। समर्थ कारण होनेपर कार्य होता ही है। उसे इन्द्र, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र आदिक कोई मेटनेमें समर्थ नहीं। जैसे चावलोंमें पकनेकी शक्ति है, ऐसे ही चावल, जो पक सकते हैं उन चावलोंको जलते हुए चूल्हेपर रखी हुई बटलोहीमें पानी भरकर रख दिया गया, नीचे अग्नि जल रही है, उसको रोकनेका प्रतिबंधक कारण भी कुछ नहीं है तो ऐसी स्थितिमें अब उन चावलोंको पकनेसे रोक कौन सकता है? इसी श्रद्धाके बलपर तो प्रतिदिन लोग चावल बटलोहीमें भरकर चूल्हेपर रख देते हैं और नीचे आग जला देते हैं। उनके कानमें कभी ऐसा विचार नहीं आता कि आज भात बन भी पायेगा कि नहीं, क्योंकि उनको पूर्ण श्रद्धा रहती है कि ये चावल पक अवश्य जायेंगे। हाँ यदि नीचे अग्नि न जलाई जाये या उस बटलोहीमें चावलकी जगहपर कंकड़ भर दिये जायें तो वे न पक सकेंगे। पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारोंके होने पर, जिन बहिरङ्ग सहकार कारणके होनेपर योग्य चावल पक जाया करते हैं, वे सब हों तो वहाँ वह कार्य होता है। वहाँ उसे रोकनेमें कोई सामर्थ नहीं। हाँ यदि सभी योग्य कारण न मिलें तो उस कार्यका होना रुक जायेगा। तो जैसे सर्व कारणोंके बीचमें योग्य परिणाम सकने वाला उपादान अपनेमें परिणमन करता है यों ही हम आप सब रागी जीव, उदय भी कर्मोंका चल रहा है और बहिरंग कारण आश्रय भी जुट जायें तो वहाँ राग करते हैं।

धर्ममार्गमें प्रगति करनेका अपना कर्त्तव्य—कर्त्तव्य यह है कि अपना ज्ञान सही बनायें, क्षयोपशम भी तो ज्ञानावरणका चल रहा है। कुछ मंदकषायकी बात भी तो चल रही है, वैसी योग्यता भी तो है। हम उस योग्यताको अपने कार्यमें लें, अध्ययन द्वारा ज्ञानोपयोग हमारा बने। हम यथार्थ बात समझें, मैं मैं हूँ, बाकी परपदार्थपर है, परसे मैं अत्यन्त निराला हूँ, ऐसा दर्शन करनेका पौरुष बनायें तो यह रागभाव मंद हो जायेगा, और कभी यह रागभाव सम्पूर्ण मेट सकनेमें समर्थ हो सकेंगे। जैसे कोई चींटी जब किसी भीतपर चढ़ती है तो बीसों बार चढ़ चढ़ कर गिरती रहती है, पर उसके अन्दर कुछ ऐसा ही आग्रह है कि उसी भीतपर वह फिर चढ़ने लगती है और कभी

वह चढ़ ही जाती है, तो इसी तरह हम इस संसारमें अनके बार धर्मके लिए अपना उत्साह बनाते हैं, कुछ चढ़ते हैं फिर गिरना पड़ता है, फिर कुछ चढ़ते हैं फिर गिरना पड़ता है। पर इस चढ़नेके आग्रहमें (धर्मपालनके आग्रहमें) अपनी हिम्मत न तोड़े, अपने धैर्यको न खोवें, कितनी ही असफलतायें मिलें, पर अपना कदम पीछे न हटायें, अपने धर्मपालनके कदमको आगे ही बढ़ाते जायें तो निश्चय ही वह समय आयेगा कि हम पूर्णरूपेण धर्मपालनके पात्र बन जायेंगे। वह धर्म है क्या चीज? वह एक ज्ञानसाध्य बात है। यह एक दृढ़तासे समझनेकी बात है। और उसही ज्ञानबलसे एक ऐसा बल प्राप्त होता है कि हम बाहर बातोंको पूर्णरूपेण सहन कर सकनेमें समर्थ हो सकते हैं। तो अनेक शक्तियोंसे संयुक्त यह जीव उस उस प्रकारकी कारण सामग्रीमें अपना परिणमन बनाता है।

विकासके समर्थ कारणोंमें विकासकी अवश्यभाविता—एक भव्यत्वशक्ति भी है, उससे युक्त जो जीव हैं वे उस तरहका साधन बनायें तो अपनेमें उस धर्मभावको प्रकट कर सकते हैं। तो यह समझना चाहिए कि हम अपने अन्तः पौरुषमें बढ़ सकें, ऐसे साधन जुटायें, सत्संग अधिकाधिक समय तक रखें, जिस संगमें हम रहते हैं, योग्यता हममें नाना तरहके परिणमनकी है, हम उसका प्रभाव अपनेमें बना लेते हैं, सत्संग बहुत काल तक रहे, स्वाध्याय, ज्ञानोपयोग बहुतकाल तक रहे, संस्कार इसीमें आत्माके बनते हैं, इसको संस्कृत किया जाये, उस ही ज्ञानधारामें इस उपयोगको लगाया जाये तो हमारा संस्कार ज्ञान और धर्मका बन सकेगा, और उसके बलपर हम अशान्तिसे दूर हो जायेंगे, शान्ति प्राप्त कर लेंगे। कितना सुगम तो मार्ग है, केवल एक व्यामोहको हटाकर अपने आपमें भीतर परखनेकी बात है। हम यदि यह दृढ़ निर्णय करके रह जायें मेरा कहीं कुछ नहीं है, किसीसे कुछ प्रयोजन नहीं है, मैं अपनेमें बसे हुए उस सहज परमात्मत्वके दर्शन करके तृप्त रहूंगा, अब मुझे अन्य बातोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है। मेरा केवल एक यही काम है, सर्वसे मैं निरपेक्ष होकर मैं एक इस सहज रमात्वके दर्शनमें ही आसक्त होऊंगा, ऐसा दृढ़ संकल्प करके भीतरमें इसकी धुन बनायें तो फिर ज्ञानानुभूतिके अनेक क्षण आयेंगे, और इस ज्ञानानुभवमें ही वह बल है कि भव-भवके संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेमें कारण बनता है, इस पौरुषमें हमें आगे बढ़ना चाहिये और आजके पाये हुए जो पुण्य समागम हैं श्रेष्ठ कुल, जैनदर्शनकी प्राप्ति और जानने समझनेकी योग्यता और यथावसर सत्संगका मिलना, ये सब हमारे सफल हो जायेंगे जब कि हम अपने आपके उस सहज परमात्मत्वके दर्शन करनेमें अपना उपयोग लगायेंगे।

जीवाण पुगलाणं जे सुहुमा बादरा य पज्जाया।

तीदाणगद भूदा सो ववहारो हवे कालो ॥ २२० ॥

व्यवहारकालका विश्लेषण—लोक भावनामें यह प्रकरण चल रहा है कालद्रव्यके स्वरूपका। कालद्रव्य क्या चीज है? जो निश्चयकाल है, जो वास्तविक कालद्रव्य है वह अतिसूक्ष्म है और बताया गया है कि आकाशके, लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य है। जैसे कि एक परमाणु कितना सूक्ष्म पदार्थ है। एक छोटासे छोटा कंकड़ होवे तो उसमें भी अनन्त परमाणु पड़े हुए हैं। अब बतलाओ जिसको हम छोटा नहीं कर सकते इतने सूक्ष्म करण हैं और उसमें भरे हैं अनन्त परमाणु। अब उसमें एक परमाणु कितना कहलाता है यह हम आप इन इन्द्रियों द्वारा न जान सकेंगे। इसे तो सर्वज्ञदेव ही साक्षात्कार कर सकते हैं, तो जैसे एक परमाणु अतिसूक्ष्म है ऐसे ही एक प्रदेश भी सूक्ष्म है। एक सूईकी नोक किसी कागजपर गड़ा दी जाये तो उसमें जो गढ़ा बन गया उसमें अनगिनते प्रदेश हैं। उनमेंसे कोई एक प्रदेश कितना छोटा होता होगा, आप स्वयं इसका अंदाज कर लीजिए। यों ही समझिये एक कालद्रव्य लोकाकाशके एक प्रदेशपर ही जो ठहरा हुआ है वह अतिसूक्ष्म है,

अब उसके सम्बन्धमें जो हमको ज्ञानविशेष बनता है वह उसकी पर्यायके होनेपर बनता है। उस कालद्रव्यकी पर्याय है एक समय। यह एक समय भी अतिसूक्ष्म है, एक सेकेण्डका करोड़वां हिस्सा भी असंख्याते समयोंसे भरा हुआ है। उसमेंसे एक समय भी कितना सूक्ष्म चीज है। पर वे समय जब बहुत हुए तो उनको हम व्यवहारकाल द्वारा परखा करते हैं। अब सेकेण्ड हुआ, मिनट हुआ, दिन हुआ, वर्ष हुआ आदि। अब व्यवहार कालमें हम फिर व्यवहार करते हैं कि भाई समय गुजरता है, तो ऐसे परिणमन होते ही हैं। तो वह है समय नामका वास्तविक एक पर्यायार्थिक दृष्टिकाल, व्यवहारकाल। किन्तु इस गाथामें इस ढंगसे व्यवहारकालका वर्णन कर रहे हैं कि पदार्थोंमें जो परिणमन होता है वह है व्यवहारकाल। जैसे हमने समझा कि १२ घंटे व्यतीत हो गए, यह कैसे समझा कि सूर्य पूर्वसे चलकर पश्चिम तक पहुंच गया। उदय हुआ था, निकला था तब दर्शन था, अब अस्त हो रहा है तो अंतिम दर्शन हो रहा है, तो सूर्यका जो इतना काम हुआ उससे ही तो समझा कि १२ घंटे व्यतीत हो गए। यह व्यवहारकाल जो कि कालद्रव्यके परिणमनसे सम्बंधित है, वह है इस पुद्गलके परिणमनसे सम्बंधित। तो इसका परिणमन व्यवहारकाल है इस ढंगसे यह वर्णन किया जा रहा है। जीव और पुद्गलका जो सूक्ष्म और वादर पर्याय है, अतीत भविष्य वर्तमानरूप जो कुछ परिणमन है वह व्यवहारकाल कहा गया है।

दो पद्धतियोंमें व्यवहारकालका वर्णन—कालके सम्बंधमें कुछ-न-कुछ कल्पनायें सभीको जगती हैं। समय गुजरे उसको काल कहते हैं, या जो बात होनेको होती है उसको काल कहते हैं अथवा कोई लोग वस्तुके विनाश करने वाले किसीको काल कहते हैं, और कालका वास्तविक अर्थ क्या है, काल क्या चीज है? स्याद्वाद शासनमें इस प्रकार बताया है कि जैसे परमाणु पदार्थ होता है इसी प्रकार कालद्रव्य नामके भी पदार्थ होते हैं। ये अमूर्त हैं और लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य अवस्थित है। उन कालद्रव्योंकी प्रतिक्षण परिणति होती है और वह परिणति समयके रूपमें है। तो समय परमार्थपर्याय और कालद्रव्य है परमार्थद्रव्य। अब व्यवहारकाल क्या कहलाता है, उसका वर्णन इस गाथामें किया गया है। उस परमार्थ समयका व्यवहार नहीं हो सकता। और कालद्रव्य भी व्यवहार नहीं होता। व्यवहार जिस समयका, जिस कालका हो सकता है उसका वर्णन यहाँ कर रहे हैं। यद्यपि कालद्रव्यका या समय पर्यायका व्यवहार नहीं होता, लेकिन व्यवहारकालके बननेमें समय पर्याय कारण है और समय पर्यायके होनेमें कालद्रव्य कारण है। तो व्यवहारकालको यहाँ दो तरीकोंमें बतला रहे हैं। एक तो समयसे बढ़कर जो समयका समूह रूप समय है उसे व्यवहारकाल कहा है। दूसरे सभी पदार्थोंमें और विशेषतया जीव पुद्गलमें जो परिणमन दृष्टिगोचर होते हैं उन परिणमनोंको व्यवहारकाल कहते हैं। तो पहिले समयसीमामें व्यवहारकालका वर्णन किया जा रहा है।

सबसे छोटा कालपर्याय है समय। एक परमाणु एक ओरसे गमन करे और दूसरा परमाणु दूसरी ओरसे विरुद्ध गमन करे तो गमन करते हुए दो परमाणुओंका जहाँ मेल होकर अतिक्रमण हो तो उन परमाणुओंके अतिक्रमणमें जो क्षण लगे उसे समय कहते हैं। इस प्रकार भी समयका लक्षण कहा है। और मंदगतिसे चलते हुए परमाणु एक प्रदेशका उल्लंघन करें जितने क्षणमें उसे समय कहते हैं। इसको मोटे रूपमें यह समझिये कि एक चुटकी बजानेमें जितना काल लगता है उतने कालमें अनगिनते समय हो जाते हैं। उनमेंसे जो एक समय है वह कालकी जघन्यपर्याय है। असंख्यात समयोंकि राशिको आवली कहते हैं। ऐसे ऐसे अनगिनते समय गुजर जायें उसे आवली और असंख्याते आवली गुजर जायें उसे उच्छ्वास कहते हैं। उच्छ्वासका स्थूल अर्थ है कि निरोग पुरुषकी जा नाड़ी चलती है उसका जो एक उचकना है, एक नाड़ी जितने समयमें चले उसे कहते हैं उच्छ्वास। उच्छ्वासोंका

एक स्तोक होता है। ७ स्तोकोंका एक लव होता है। ३८॥ लवोंकी एक नाली (घड़ी) होती है, दो घड़ीका एक मुहूर्त होता है। अब घड़ीसे खूब अच्छी तरह व्यवहार चलने लगा। २४ मिनटकी घड़ी होती है और ४८ मिनटका मुहूर्त होता है। उस मुहूर्तमें १ समय कम करके बाकी जो समय है उसे उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं और एक समय अधिक आवलीको जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। और, इसके बीच उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तकके मध्यमें असंख्याते प्रकारके और अन्तर्मुहूर्त हैं वे मध्यम अन्तर्मुहूर्त कहलाते हैं। यह है समयकी मापकी बात।

अब २४ घंटेका दिन होता अथवा कहो ६० घड़ीका एक दिन होता। दिनके मायने दिन और रात। दूसरा दिन जब तक न आये तब तक एक दिन संज्ञाकी गई है। १५ दिनका पक्ष, दो पक्षका महीना, दो महीनेकी ऋतु, ३ ऋतुओंका अयन, दो अयनका वर्ष और १२ वर्षको एक युग कहते हैं। युग शब्दका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकरणमें भिन्न-भिन्न किया गया है, किन्तु जहाँ एक साधारण समयका माप बताया जाता है वहाँ १२ वर्षको युग कहते हैं और देखा जाता है कि १२ वर्षके बाद बहुतसा परिवर्तन हो जाता है। घरमें, देशमें, समाजमें १२ वर्षके बाद कोई नई-नई बात दिखनेसे लगती है। फिर उसके बाद उपमा प्रमाण है, पल्य है, सागर है, कल्प आदिक हैं। पहिले जितना व्यवहारकाल बताया गया उसमें जो संख्यात वर्षों जितनी बात है, वह तो श्रुतज्ञानका विषय है, असंख्यात अवधिज्ञानका विषय है, और अनन्त केवलज्ञानका विषय है। ये सब व्यवहारकाल कहलाते हैं। समयके अनुसार कालकी माप बतायी गई है।

परिणमनपद्धतिमें प्रयुक्त व्यवहारकालका कथन—अब जीव और पुद्गलके जो परिणमन हैं उन परिणमनोंको भी व्यवहारकाल कहते हैं, इस ढंगसे अब व्यवहारकालको बतला रहे हैं। जीव और पुद्गलमें दो प्रकारके परिणमन हैं सूक्ष्म और वादर। कोई हालत तो एकदम ज्ञानमें आ जाती है, कोई हालत सूक्ष्म होती है। जैसे पुद्गलमें अनन्त परमाणुओंके ये स्कंध तो आँखों दिख रहे हैं, किन्तु दो, तीन, चार अणु वाले स्कंध और अनेक परमाणु वाले अनेक स्कंध होते हैं असंख्याते परमाणुओं वाले तक आँखों नहीं दिखते। अनेकों अनन्ताणु स्कंध भी आँखों नहीं दिखते। ये सब सूक्ष्म पर्यायें हैं। जीवोंमें स्थूल पर्याय हैं मनुष्य तिर्यञ्च आदिक अथवा उसके क्रोध, मान, माया, लोभादिक। सूक्ष्म पर्याय तो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदिक हैं, जिनका समझना बहुत परिश्रमसाध्य बात है। लोग परमात्मापर इसी कारण विश्वास नहीं करते कि कौन है परमात्मा। और भगवानके है क्या ? कितने ही मनचले लोग परमात्मस्वरूपका यों तिरस्कार करते हैं कि क्या रखा है वहाँ ? खाना पीना भी नहीं, शरीर भी नहीं, कोई मौजके साधन भी नहीं, किन्तु मोही जीवोंको उस परमात्मतत्त्वकी क्या खबर हो सकती है ?

परमात्मतत्त्वका निश्चयन—परमात्मतत्त्व अपने आपमें ही विराजमान है। उसके देखनेकी पद्धति होनी चाहिए। जैसे एक किलो दूध रखा हो, उसके बारमें पूछा जाये कि बताओं इसमें घी है या नहीं ? तो घी आँखों दिखता तो नहीं, पर पारखी लोग बता देते हैं कि इसमें एक छटांक घी है। उन्होंने विवेक बुद्धिसे समझा और जान लिया, किन्तु उसके व्यक्त होनेका उपाय दूसरा ही है। मशीनसे उसका मंथन किया जाये तो वहाँ घी प्रकट होता है। तो यह प्रकट होनेका उपाय है लेकिन घी का अस्तित्व उस दूधमें है अप्रकट रूपसे, शक्तिरूपसे है, इसी प्रकार हम आपकी जो आज हालत है सो यह कोई परमात्मस्वरूपकी बात नहीं है। नारकी, पशु, पक्षी मनुष्य आदिक कितनी ही तरहकी दुःखमयी स्थितियाँ हैं उनको लादे फिरना यह कोई परमात्मस्वरूपकी बात नहीं है, लेकिन हम आप जो दुःखी हो रहे हैं, परतंत्र हो रहे हैं, जन्म-मरण कर रहे हैं उतने विकल्प मचा रहे हैं, जीव हम वही है जिसमें कि वह परमात्मस्वरूप बना हुआ है। वह शक्तिरूप है। न हो तो यह बात भी नहीं हो सकती है लेकिन

उस परमात्मस्वरूपके दर्शनका और उसके विकासका उपाय होना चाहिए। परमात्मस्वरूपका दर्शनका उपाय यही है कि कोई प्रकारके विकल्प न हों, तब वहाँ उस स्वरूपका दर्शन होगा। परमात्माके दर्शनमें बाधा देने वाले तो विकल्प हैं। जहाँ परवस्तुके सम्बंधमें कोई ख्याल बनाया, विकल्प बनाया, बस वे विकल्प ही उस स्वरूपको प्रकट नहीं होने देते, उसके दर्शन नहीं होने देते। यदि वे विकल्प न हों तो परमात्मस्वरूपका दर्शन होगा।

निर्विकल्पताके आनन्दकी अलौकिकता—अब विकल्प न हों इसका उपाय बनाना है। उसका उपाय यही है कि जहाँ हमारा दिल जाता है, जिनका आश्रय करनेसे विकल्प बनते हैं उनका स्वरूप समझें। वे चीजें मेरेसे भिन्न हैं, पर हैं, मेरा तो मेरेमें ही सर्वस्व है, किसी परपदार्थसे मुझमें कुछ आता नहीं है, ये सभी पदार्थ मेरेसे अत्यन्त निराले हैं। इनमें उपयेग लगानेसे तो मेरी बरबादी ही है। जन्म-मरणके संकट सहने पड़ते हैं। ये समस्त ही परपदार्थ चित्तमें बसाने योग्य नहीं है। इस तरहका एक निर्णय करते जाइये और चित्तमें उठने वाले नाना प्रकारके विकल्पोंको हटाते जाइये, तो किसी क्षण एक ऐसी स्थिति बनेगी कि यथायोग्य उस परमात्मतत्त्वकी झाँकी हो जायेगी और तब मालूम पड़ेगा कि परमात्माका आनन्द किस जातिका है। परमात्माके अनन्त आनन्द हैं, और यहाँकी अनुभूति करने वाले पुरुषको उस जातिका थोड़ा आनन्द आया है। जैसे कोई धनिक सेठ एक किलो मिठाई खरीद कर छक कर खाता है और कोई गरीब आदमी उसी मिठाईको एक छटांक ही खरीदकर खाता है तो स्वाद तो दोनोंने एक जैसा ही पाया। हाँ अन्तर इतना है कि सेठने तो छक कर खाया और गरीब छक कर नहीं खा पाया, एक उसकी जानकारीभर कर पायी, यों ही समझिये कि परमात्माके आनन्दमें और एक सम्यग्दृष्टि पुरुषके आनन्दमें ऐसा ही अन्तर है। परमात्मा तो अनन्त आनन्द वाला है जिस आनन्दसे अब कभी वह विचलित न हो सकेगा और सम्यग्दृष्टि पुरुष समझ जायेगा कि परमात्माका आनन्द इस तरहका है।

शान्तिकेलिये तद नुकूल अन्तः पौरुषकी आवश्यकता—हम आप सभी शांत व सुखी होना चाहते हैं, पर शान्त और सुखी होनेका जो उपाय है उसमें कषायवश लग नहीं पाते। इस जीवने भव-भवमें कषायें कीं और उन कषायोंसे खोटे ही फल पाये। तो जैसे कोई तेज लालमिर्च खाने वाला पुरुष लालमिर्च खाकर दुःखी होता जाता है, आँखोंसे अश्रु भी बहाता जाता है, सी-सी भी करता जाता है मगर कहता है कि लालमिर्च थोड़ी और दे दो, ठीक ऐसे ही समझो कि राग कर करके हम आप दुःखी होते जाते हैं पर उन दुःखके मेटनेका उपाय राग करना ही समझते हैं। पर राग कर करके दुःख मिट सके यह बात कभी हो नहीं सकती। जैसे खूनका दाग खूनसे धाया तो वह खूनका दाग मिट नहीं सकता, ऐसे हीरा गकर करके रागसे उत्पन्न हुआ दुःख मेटा नहीं जा सकता। उस दुःखको मेटनेके लिए सही जानकारी बनानी होगी, परद्रव्योंसे एकदम उपेक्षा करनी होगी, कषायभाव मेटने होंगे।

पर्यायोंकी व्यवहारकालरूपता—यहाँ वादर और सूक्ष्म पर्यायोंकी बात चल रही है कि जीवमें जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, विशुद्ध आनन्द आदिक पर्यायें हो रही हैं वे सूक्ष्म पर्यायें हैं। वे एकदमसे समझमें नहीं आ सकतीं। ये सब पर्यायें व्यवहारकाल कहलाती हैं। जहाँ वस्तुके स्वरूपका वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षामें किया जाता है वहाँ भी कालका यही अर्थ है वस्तुका परिणमन। किसी पदार्थको जानना हो तो वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ज्ञानमें आयगा। जैसे मान लो एक इस पैन (कलम)को ही समझा तो इसका जो स्कंध है, द्रव्य है वह ज्ञानमें आया। यह कितनी जगह घेर रही है, कितनी बड़ी है, उसका आकार भी ज्ञानमें आया और यह कमजोर है, मजबूत है, आदिक किस पर्यायमें है, किस रंगका है, यह भी ज्ञानमें आया और इसमें कैसी शक्ति है यह भी ज्ञानमें आया। तो ये चार चीजें ज्ञानमें आयीं उस विधिसे ही वस्तुका परिचय होता है। तो यहाँ कालका अर्थ

परिणामन किया गया है। अब विचार करें ये सब परिणामन कितने हैं ? तो उसको कहा न जा सकेगा क्योंकि जितने कालके समय हैं प्रत्येक समयोंमें भिन्न-भिन्न परिणामन चलते रहते हैं। तो जितने कालके समय हैं उतनी ही पर्यायें कहना चाहिए। और इस सामान्य दृष्टिमें छहों द्रव्योंका अवस्थान समान है। प्रत्येक द्रव्य अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहता है। कोई नया द्रव्य बनता नहीं और कोई द्रव्य कभी मिटता नहीं जितने (अनन्त) जीव हैं वे सब रहेंगे जितने (अनन्त) पुद्गल हैं वे सब रहेंगे। जो सत् है उसका विनाश नहीं। जो कुछ भी नहीं है उपादान न मिलनेसे उनकी उत्पत्ति कल्पनामें आ नहीं सकती।

व्यवहारकालके स्वरूपको जानकर अपनी समझ बनानेकी सत्यदिशाका निर्देश—इस अनादि अनन्त काल परिणामनको जानकर अपने आपके बारेमें भी कुछ समझना है। मैं अनादिसे हूँ, अब तक हूँ अनन्तकाल तक रहूँगा। तो अब तककी जो हमारी स्थितियाँ गुजरी हैं वे सब खोटी गुजरी हैं। जन्म मरण किया है। मरण किया, जन्म लिया, सारी जिन्दगी मोहमें, कषायोंमें बितायी, फिर मरण किया। मोहमें जन्में, मोहमें जिये और मोहमें ही मरे, ऐसी स्थिति जीवोंकी अब तक चली आयी है। लाभ कुछ नहीं मिला। अब अपना कर्तव्य यह है कि अपनी स्थितिको अब बदलें, कुछ सत्य ज्ञानकी ओर आयें। अब तक जो हुआ सो हुआ उसका खेद क्या करें? जो होना था हुआ, अब जान लीजिए कि जो कुछ भी अभी तक हुआ वह सब मिथ्या था, मायारूप था। तो यह जानकारी हमारे हितके लिए है। अब आगेकी कुछ सुध लें, बीती हुई बातोंको मायारूप समझें, इन लौकिक समागमोंमें हर्ष विषाद न मानें। यह तो संसार है, यहाँ पुण्य तथा पापके फल मिलते हैं तो पुण्यके फलमें हर्ष न मानना और पापके फलमें विषाद न मानना। उस पुण्य पाप फलोंके ज्ञाताद्रष्टा रहें और अपने आपमें ऐसा निर्णय बनायें कि मैं तो इन सबसे निराला एक विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। ये जो व्यवहारकाल बताये जा रहे हैं, इनसे निराला अपने आपको एक शुद्ध स्वरूपमें निरखना यही हम आपका आगे बढ़नेका उपाय है। अब अतीत, भविष्य और वर्तमान पर्यायकी संख्याका प्रतिपादन करते हैं।

तेसु अतीदा पांता अणंत-गुणिदा य भावि-पज्जाया।

एक्को वि वट्टमाणो एत्तिय-मेत्तो वि सो कालो ॥ २२१ ॥

पर्यायोंकी अनन्तता—उन जीवन पुद्गल आदिक पदार्थोंमें अतीत पर्यायें अनन्त हैं और उनसे अनन्तगुनी भविष्यकी पर्यायें हैं और वर्तमानकी पर्याय एक है, उन सब पर्यायोंमात्र यह काल है अथवा यह एक पर्याय है। चेतनकी पर्यायें कितनी गुजर गई हैं ? तो उसे कहेंगे कि जितने अतीतकाल गुजरे हैं उतनी पर्यायें गुजरी हैं अतीतकाल कितना गुजरा है ? इसका अनुमान एक शुद्ध जीवराशिकी मापसे कहा जाता है। ६०८ जीव ६ महीना ८ समयमें मुक्त होते हैं ऐसा एक साधारण नियम है। तब जितने आज तक सिद्ध हुए हैं उनमें ६ महीना ८ समयके मापसे संख्यात आवलियोंका गुणा कर दिया जाये तो अतीतकालका प्रमाण निकल आयेगा। कितना है यह सब समझनेके लिए कहा जा रहा है। कहीं वह अतीतकाल गिनतीमें न आ जायेगा। अनन्त समय गुजर गया, और भविष्यकाल कितना होगा? तो इससे भी अनन्तगुना समय होगा। यद्यपि अतीतकालका भी अन्त नहीं है और भविष्यकालका भी अन्त नहीं है इस दृष्टिसे दोनों ही समान हैं, लेकिन एक यह दृष्टि रखी गई है कि इस जीवमें पर्यायें सदा होती रहेंगी उसपर बल देनेके लिए कह रहे हैं। भावी पर्यायें उससे अनन्तगुनी हैं और वर्तमान पर्याय एक है। यों इतना मात्र अर्थात् समस्त पर्यायें मात्र ये पदार्थ कहलाते हैं। ये सब पर्यायें जैसे अनन्त जीवमें हैं, अनन्त पुद्गलमें हैं ऐसे ही अनन्त पर्यायें अन्य द्रव्यमें भी हुई और होंगी। अधर्म, आकाश, कालमें भी ऐसी ही अनन्त

पर्यायें हुई हैं, और अनन्त पर्यायें होंगी। ये द्रव्य सूक्ष्म हैं और इनसे इस जीवका व्यवहार भी नहीं चलता आया है अतएव यह सूक्ष्म विषय है। जीवका व्यवहार तो जीव और पुद्गलके परिणामनसे बीच चलता रहता है। जीव जीवसे व्यवहार करता है। जीव पुद्गलसे व्यवहार करता है। जीवके निमित्तसे दूसरे जीवका कुछ उपकार विकल्प होता और पुद्गलके निमित्तसे भी जीवका उपकार विकल्प होता।

भेदविज्ञान द्वारा झमेलेसे छुटकारा—हम आपका जो झमेला है वह सब जीव पुद्गलके बीचका है। हमें भेदविज्ञानका उपयोग इस जीव और पुद्गलपर विशेषतया करना है। मेरेमें अतिरिक्त जितने भी जीव हैं वे अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। अपने आपमें उनमें स्वतः परिणामन होता है मेरेसे नहीं और मेरेमें परिणामन मेरा स्वतः होता है, किसी अन्य जीवसे निकलकर नहीं होता। इस प्रकार सर्व पुद्गल द्रव्य अणु-अणुमात्र देह भी और कुछ भीतर कर्म अणु मनके अणु जो कुछ भी हैं सब पुद्गल द्रव्य मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यका स्वरूप रख रहे हैं तो मैं अपने स्वरूपसे चल रहा हूँ, दूसरे स्वरूपसे नहीं चलता। इस वस्तु स्वरूपका दृढ़ विश्वास करके जो समस्त परवस्तुओंसे उपेक्षा कर सकेगा वह अपने आपमें अन्तः प्रकाशमान भगवत् तत्वके दर्शनपर पायेगा और जो इन बाहरी पदार्थोंके विकल्पोंमें ही उलझा रहेगा वह खुद भगवत् स्वरूप होकर भी खुदका दर्शन नहीं कर सकता है और न उस अनुपम आनन्दका लाभ प्राप्त कर सकता है। हमारा कर्तव्य है कि हम भेदविज्ञानमें अपनी बुद्धि अधिकाधिक लगायें, मैं सबसे निराला हूँ ऐसा अनुभव करनेका यत्न करें तो इस पौरुषसे हम आपके समस्त संसार संकट टल सकेंगे।

पुव्व-परिणाम-जुत्तं कारण-भावेण वट्टदे दव्वं।

उत्तर-परिणाम-जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥ २२२ ॥

अन्तरङ्गका कारण कार्यका स्वरूप—इस गाथामें द्रव्योंका कार्य कारण परिणाम बताया गया है। पूर्वपर्यायसे युक्त द्रव्य कारणरूपसे रहता है और उत्तर पर्यायसहित द्रव्य कार्यरूप हुआ करता है। कारण कार्य विधानके समय न केवल द्रव्यका वर्णन ठीक बैठता है, न केवल पर्यायका वर्णन ठीक बैठता है। क्या केवल पर्याय ही कारण होता है अथवा कार्य होता है? सो केवल पर्याय कोई वस्तु नहीं और मात्र कोई पर्याय जो द्रव्यसे रहित है किसीका कारण बने या किसीका कार्य बने ये दोनों बातें ही सम्भव नहीं हैं, इसी प्रकार कारणकार्यविधानमें केवल द्रव्यकी बात ग्रहण न करें। खाली वह शाश्वत वस्तु जो त्रिकाल अन्वयी है, एक इतना ही अंशमात्र न किसीका कारण है, न किसीका कार्य है। इसी कारण इस गाथामें इस तरहका वर्णन किया गया कि पूर्वपर्यायसे युक्त द्रव्य कारण होता है और उत्तरपर्यायसे सहित द्रव्य कार्य होता है, पूर्वपर्याय सहित द्रव्य कारण होता है इसका अर्थ है उपादान कारण होता है, क्योंकि वही द्रव्य जो पूर्वपर्यायमें है उत्तर क्षणमें नवीन पर्यायमें आयेगा सो नवीन पर्यायमें आया उसका उपादान कौन है? पूर्व पर्यायसहित द्रव्य अर्थात् वही द्रव्य उत्तरपर्यायरूप प्रकट हुआ है और पूर्व पर्यायसहित द्रव्यमें अनन्तर ही तो पर्याय हुई है, इस कारण पूर्व पर्यायसहित द्रव्य कार्यका उपादान कारण कहलाता है। वही द्रव्य जो उत्तर पर्यायसे युक्त है वह कार्यभूत है; अर्थात् पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य जिसमें विवक्षित उत्तरपर्यायकी योग्यता है, योग्य कारण सन्निधान मिलनेपर वहाँ वह पर्याय प्रकट होता ही है।

उपादानकारणकी योग्यता—कदाचित् यह कह सकते हैं कि योग्यता तो उसमें अनेक पर्यायोंरूप बननेकी है और कारण मिला उस रूपका जो विवक्षित पर्याय बनी है तो वह कैसे प्रकट होगी? तो भाई विवक्षित पर्याय वही है जो अनुकूल कारण सन्निधान होनेपर प्रकट होती है। कुछ लोग ऐसी कल्पना करते हैं कि पूर्व पर्याय

सहित द्रव्यमें जो उत्तरपर्याय होती है केवल उस ही एक पर्यायरूप होनेकी योग्यता है, लेकिन जब युक्तिसे भी नजर आ रहा है कि कुम्हारने चाकपर सनी हुई मिट्टीका पिण्ड रखा है और उस पिण्डमें सब योग्यतायें समझमें आ सकती हैं कि इसमें घड़ा भी बन सकता, दीपक भी बन सकता, ढक्कन भी बन सकता, सकोरा भी बन सकता, तो उसमें योग्यतायें अनेक पर्यायरूप हो सकती हैं, किन्तु जैसे अनुकूल साधन मिलते हैं कुम्हारका हाथ जिस ढंगका व्यापार करता है उस अनुकूल कारणको पाकर वहाँ उस प्रकारकी पर्याय बनती है। अब इस ही तत्त्वको वस्तु दृष्टिसे निरख करके कहा जा सकता है ऐसा कि चूँकि प्रत्येक पदार्थमें अनन्त पर्यायें होती हैं, और जब जो होना है तब वह होता है अन्यथा सर्वज्ञ अवधिज्ञानी ये सब निष्फल हो जायेंगे। अवधिज्ञानसे जाना तो है कि अमुक समयमें अमुक परिणामन होना है तो कैसे जाना ? होना है तब तो जाना है। तो केवल इस होनेकी दृष्टिको रखकर कोई यहाँ निरखे कि जब जो होना है सो होना है, तो प्रत्येक पर्यायके समय एक ही उत्तर नवीन पर्यायकी योग्यता है, क्योंकि वही होगा, किन्तु इस प्रसंगमें यह भी जानना चाहिए कि बात यद्यपि यह सही है कि जो जाना प्रभुने जो जाना अवधिज्ञानियोंने वह होगा, मगर जाना उन्होंने तब ही है जब वह होनेको है और उसका होना है कार्यकारणविधानपूर्वक। जैसा कि दर्शनशास्त्रमें वर्णित है, उपादान हो, बहिरङ्ग अनुकूल कारण हों, प्रतिबंधक कारणका अभावहो तब वहाँ वह कार्य बनता है, तो इस कार्यकारणविधानपूर्वक जो कुछ होगा उसको जान लिया है। तो जनने मात्रसे कार्यकारणविधानका तिरस्कार नहीं हो सकता। वह जिस विधिपूर्वक होता रहता है, होता था, होता रहेगा, अब उसको ज्ञानियोंने जान लिया तो यह कोई अपराध तो नहीं किया।

कार्यके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग हेतु यहाँ बताया जा रहा है कि पहिली अवस्थामें रहने वाला पदार्थ अगली अवस्थाका उपादान कारण होता है; जैसे मिट्टीका पिण्ड घड़ा बननेका उपादान कारण है। उसके बाद वहाँ घड़ा बना ना, खपरियोंका उपादान कारण वह घड़ा है। क्योंकि घड़ा फूटकर ही खपरियाँ बनीं। तो उत्तरोत्तर जो पर्याय होती रहती हैं उन कार्योका अन्तरङ्ग कारण उपादान कारण पहिली-पहिली अवस्थामें रहता हो वही द्रव्य है। इस बातको अपने आपपर घटित करो कि हममें जो रागादिक भावोंकी संतानें चलती रहती हैं, राग हुआ, विकल्प हुआ, कुछ और विचार हुए, कभी कुछ सोचते हैं कभी कुछ, तो यों तो मलिन पर्यायोंकी संतति चल रही है, यह धारा नहीं टूट रही है तो इस धारामें कौन कारण है ? तो अन्तरङ्ग कारण तो यह स्वयं हैं क्योंकि इसीमें ही यह धारा बन रही है और ऐसे संस्कार हैं, अज्ञानभरा भाव है इस योग्यतासे यहाँ यह रागद्वेषकी धारा चल रही है, पर बहिरंग कारण पर, निमित्त कारणपर दृष्टि देते हैं तो कोई अन्य पदार्थ वहाँ निमित्त अवश्य है अन्यथा अर्थात् बाह्यको निमित्त न माननेपर केवल अपने ही उपादानसे अपनेमें ये मलिनतायें बनीं, ऐसी स्वीकृति कर लेनेपर तो इन पर्यायोंका अन्त न आ सकेगा। कैसे अन्त आये ? जब अपनी सत्ता मात्रसे ही ये रागादिक हो रहे हैं तो ये विनष्ट कैसे हों ? तो बताया गया है कि कर्मोदय निमित्त कारण है, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव आदिक ये सब बहिरंग आश्रय कारण हैं और हमारी अज्ञानता, हमारा उस प्रकारका संस्कार यह हमारा अन्तरंग कारण है। इस तरह कार्य कारण विधान होता है।

परसे उपेक्षा करके स्वयंमें अन्तःप्रकाशमान परमात्मतत्त्वके दर्शनका कर्त्तव्य इस प्रसंगमें हमको उस तत्त्वपर दृष्टि देना चाहिए कि जहाँ दृष्टि जानेपर यह विदित होता कि मैं न कार्य हूँ न कारण हूँ, वह दृष्टि है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभावकी दृष्टि। मैं अपने आप अपने सत्त्वसे क्या हूँ ? निरपेक्षरूपसे अपने सत्त्वका बोध किया जाये तो वह चैतन्यमात्र अनुभव होगा। इस मेरेका किसी अन्य पदार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पूर्वभवमें

कोई परिवार मिला होगा, कोई समागम तो था ही, कहीं तो जन्म था ही। वहाँसे मरण करके यहाँ आये तो इस समय हमारे लिए क्या रहा वहाँका ? न उसका कुछ खयाल है, न व्यवहार है, न सम्बन्ध है। तो जैसे पूर्वभवकी छूटी हुई चीजें प्रकट मालूम हो रही हैं कि वे मेरा कुछ न थीं। तो भाई जो बात पूर्व (बीते हुए) भवकी हो सकती है वही बात आगामी (आगे होने वाले) भवके लिए भी हो सकती है। आज जो ये समागम प्राप्त हैं वहाँसे मरण करके जानेके बाद फिर ये अपने कुछ न रहेंगे। ये सब छूट जायेंगे। देखिये इस सत्य ज्ञानका क्षणभरके लिए भी छूना बन जायेगा तो एक अलौकिक आनन्दकी प्राप्ति होगी। अपने आपके सत्य वैभवका दर्शन होगा। परमात्मस्वरूपका दर्शन न तो शरीरके परिश्रमसे होगा और न धन वैभवके द्वारा होगा। न किसी प्रकारके मौजमें रहनेसे होगा। न कोई क्लेश करनेसे होगा। परमात्मस्वरूपका दर्शन विकल्पोंका परित्याग करनेसे होगा। इस प्रभुस्वरूपके दर्शनमें बाधा हमारे ही खुदके विकल्पोंसे आ रही है। हम बाहरमें अपने उपयोगको किए हुए हों तो अन्तरंगकी बातको नहीं समझ सकते हैं। जब बाहरसे अपने इस उपयोगको हटाकर कुछ अपने अन्तःमें ले जायेंगे तो वहाँ अपने अन्दर पड़ी हुई उस अमूल्य निधिका दर्शन होगा। तो हमारे ये विकल्प ही हमारी उन्नतिमें बाधक हैं, इन विकल्पोंके ही कारण हम दुःखी रहा करते हैं और इस संसारमें रुलते रहते हैं।

अपनी असहायता स्वसहायता—हमें अब चेतना चाहिए और कमसे कम इतना निर्णय सदा रखना चाहिये कि मेरे किए हुए कर्मोंका फल मुझे अकेले ही भोगना होगा। मेरे किए हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिए यहाँ कोई दूसरा हमारा साथी न होगा। अगर कदाचित् सिरदर्द हो जाये तो उसके दर्दको ये परिजन, ये मित्रजन कोई भी बाँट न सकेंगे, उस दर्दको तो खुदको ही भोगना पड़ेगा, हाँ वे दूसरे लोग मनपसंद बातें करके चित्तको रमाते हैं, पर हम ही यदि उनकी बातोंमें राग करते हैं तो उनमें हमारा चित्त रम जाता है, पर वे कोई भी लोग मेरे किसी भी प्रकारके परिणामनको कर सकनेमें समर्थ नहीं हैं। ऐसा असहाय यह मैं हूँ इस जगतमें। असहायका अर्थ है खुदका सहाय होना, अन्य किसीका सहाय न होना। प्रभुका केवलज्ञान असहाय है, मायने प्रभुको किसी दूसरेकी सहाय नहीं हैं वे खुद ही खुदके लिए सहाय हो गए हैं। यहाँ दो दृष्टियोंसे देखना है सांसारिक दृष्टिसे भी कोई किसीका सहाय नहीं है। हाँ अगर कोई लोग किसीकी पूछ करते हैं तो समझ लीजिए कि उन व्यक्तिका ऐसा पुण्योदय ही है कि जिसकी वजहसे वे लोग पूछ कर रहे हैं। अगर खुदका पुण्योदय उस ढंगका न हो तो फिर कौन उसकी पूछ करते ? अगर कोई सोचे कि देखो ये लोग कितना हमारे लिए प्रिय बन रहे हैं, ये लोग कितना प्रेमका व्यवहार मेरे प्रति कर रहे हैं तो उसका यह सोचना गलत है। अगर आपकी ही कुछ करतूत न हो, आपमें ही कोई कला न हो तो फिर कौन आपकी पूछ करेगा ? हाँ आपका स्वयंका जब उस ढंगका पुण्योदय है तो वे लोग आपकी पूछ कर रहे हैं। तो अपनी ही करतूत अपनेको फल देती है। इस बातका निर्णय बनायें कि यहाँ कोई दूसरा मेरा साथी नहीं है। यह भी श्रद्धान हो तब भी बहुतसे संकटोंसे छुटकारा हो सकता है।

पर्यायविवेक—हममें उत्तरोत्तर कार्य किस प्रकारसे होते रहते हैं उसका यह वर्णन चल रहा है। मैं हूँ, अनादिसे हूँ, अनन्तकाल तक रहूँगा, मेरा कभी अभाव न होगा। मैं रहूँगा सदा। जब सदा रहूँगा तो किसी न किसी अवस्थामें ही तो रहूँगा। वे अवस्थायें गति मार्गणाकी दृष्टिसे ५ हैं नारकी, निर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध। इनमेंसे किसी न किसी अवस्थामें यह जीव रहता है। सिद्ध अवस्था ऐसी है कि उसके बाद फिर दूसरी अवस्था नहीं बनती। अवस्थायें तो हैं इन्द्रिय मार्गणाकी दृष्टिसे एकेन्द्रिय रहे, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय रहे अथवा इन्द्रियसे रहित रहे, ये अवस्थायें ही तो हैं। इनमें इन्द्रियरहित अवस्था इसे प्राप्त हो तो फिर दूसरी

अवस्था न होगी। तो इन अवस्थाओंमें एक छंटनी करें कि अपना हित कि सअवस्थामें रहनेमें है ? क्या संसारमें जन्म-मरण करते रहें, जिन्दगी मोह रागमें ही बितायें, इसमें कुछ अपना हित हो सकेगा ? अरे यह तो संकट है। तो अपनेको ऐसी अवस्था प्रकट हो कि जो शान्ति उत्पन्न करे। उसीके लिए अपनी योग्यता बनाना है। वह योग्यता बनेगी भेदविज्ञानके संस्कारसे। नित्यभेदविज्ञान बना रहे।

अपनी विविक्तताका परिचय—आचार्य संतजन तो कहते हैं कि अविच्छिन्न धारासे अर्थात् कभी भी न टूटे ऐसी धारासे भेदविज्ञान रहे, सदा विविक्त अन्तस्तत्त्वका प्रत्यय रहे, विश्वास रहे कि मैं सबसे निराला केवल चैतन्यमात्र हूँ। मैं अपने ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ। सर्व गुणोंमें ज्ञानगुण-प्रधान है। ज्ञानगुणका वर्णन करनेमें सभीका वर्णन आ जाता है। ज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ न मैं करता हूँ, न भोगता हूँ। इसी समय मानों आपने कोई बिल्डिंग बनाया, या कोई व्यापार बढ़ाया तो इन सब प्रसंगोंमें आपने वास्तवमें किया क्या ? चीज बनी, चीजका परिणामन तो आपने नहीं किया, आपने विचार बनाया, बुद्धि बनाया, विकल्प बनाया, इसके आगे और कुछ नहीं किया। अब इस विधि विकल्पोंके किये जानेपर निमित्तनैमित्तिक भाववश ये सब कार्य हो रहे हैं। तो सर्व स्थितियोंमें यह जीव ज्ञानको करता है, विकल्पको करता है, किसी अन्य पदार्थका करने वाला नहीं है। तो यों वस्तुस्वरूप समझमें आनेपर पूर्वपर्यायसहित द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण है, यह बात यथाविधि समझमें आनेपर पूर्वपर्यायसहित द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण है, यह बात यथाविधि समझमें आनेपर जैसे मैं मेरे लिए कार्यकारण हूँ ऐसे ही सभी पदार्थ उनके लिए कार्यकारण हैं। तब मेरा किसी अन्य पदार्थसे क्या सम्बंध है ? ऐसा परिचय होता है तो उसमें मोह टूटता है जहाँ जीवका मोह मिटा, अपने आपके स्वरूपकी धुन बनी कि उसमें सर्व कुछ कार्य सिद्ध हो जाते हैं। सर्वकार्योंके मायने, प्रयोजन है शान्तिका, उसका लाभ हो जाता है।

कारण-कज्ज-विसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थूणं।

एक्केक्कम्मि य समाए पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज ॥ २२३ ॥

वस्तुमें कारणकार्यपरम्परा—इस गाथामें यह बताया जा रहा है कि तीनों कालमें वस्तुके कार्यकारण भावका निर्णय उस ही वस्तुमें है। वस्तुके पूर्ण और उत्तर परिणामनको लेकर तीनों कालमें प्रत्येक समय कार्यकारण भाव है। इस समय जो पर्याय बन रही है वह पूर्वपर्यायका तो कार्य है और उत्तरपर्यायका कारण है। प्रत्येक अवस्था कार्यरूप भी है और कारणरूप भी है। पदार्थमें प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्य होता है और तीनोंके तीनों एक ही समयमें होते हैं। जैसे कोई मनुष्य मरकर देव बना तो अब देव पर्यायमें निर्णय करिये उत्पाद हुआ देवका, व्यय हुआ मनुष्यका और ध्रौव्य रहा जीवका। तो देवका सद्भाव, मनुष्यका अभाव और जीवको ध्रुवता ये तीनों एक समयमें हैं कि नहीं ? तो प्रत्येक पदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यका स्वभाव है। जैसे मिट्टीका पिण्डोला घड़ा बन जाता है तो जब वह घड़ा बन गया तो घड़ेका सद्भाव, पिण्डोलेका अभाव और मिट्टीकी ध्रुवता ये तीनों एक समयमें हैं। तो पर्यायका उत्पाद विनाश होकर भी जो मूलभूत वस्तु है उसकी सदा ध्रुवता रहती है और यों तीनों कालमें प्रत्येक द्रव्यमें कारणकार्यकी परम्परा चल रही है। पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तरपर्यायका कारण है, उत्तरपर्याय पूर्वपर्यायका कार्य है; अर्थात् द्रव्यमें निरन्तर अवस्थायें चलती रहती हैं।

एकत्वदृष्टिका लाभ—केवल एक वस्तुस्वरूपको निहारकर निश्चय देखें तो यही प्रतीत होगा कि प्रत्येक पदार्थ है और उनमें लगातार परिणामन चलता है। विश्वास यदि यह हो जाये कि मेरेमें मेरा परिणामन मेरे स्वभावसे चल रहा है, उस स्वभावको कोई दूसरा उत्पन्न नहीं करता तो सारतत्त्वपर दृष्टि जायेगी और वहाँ विदित होगा कि

इस सत् चैतन्यका तो मैं ही अधिकारी हूँ, मैं ही सर्वस्व हूँ, अन्य कुछ इसका कुछ नहीं है। जीवोंको दुःख है नहीं, क्योंकि दुःखका स्वभाव नहीं। स्वभाव न होकर भी चूँकि इसमें विभावशक्ति है तो कारणकूटमें और अपने अपराधसे यह जीव आनन्द स्वभावका अनुभव न करके दुःखरूप परिणाम जाता है। तो यहाँ इतना निश्चय कर लीजिए कि दुःख तो बनानेसे होता है और आनन्द स्वयं होता है। जैसे कि लोग ऐसा यत्न करते हैं कि आनन्द मिले। अरे आनन्दके लिए यत्न नहीं करना है। यत्न तो दुःखके लिए बना रहता है। हाँ वह दुःख मिटे तो वहाँ आनन्द स्वयं ही प्रकट होता है। तो करनेकी चीज खोटी है और स्वयं होनेकी चीज भली है। न करें कुछ, कोई विकल्प न करे यह जीव, स्वयं एक अपने विश्राममें आये तो इसपर स्वयं क्या होगा? आनन्द ही होगा, दुःख न आयेगा। हम विकल्प करते हैं, परवस्तुको उपयोगमें दृढ़ करते हैं, उसका आग्रह बनाते हैं, तो हममें जो इतने यत्न हो रहे हैं ये दुःखके कारण बन रहे हैं। जरा इन सब यत्नोंको, श्रमोंको छोड़कर पूर्ण विश्रामके साथ स्थित तो हो जाये, वहाँ फिर क्लेशका कोई निदान न रहेगा। जब ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ही ज्ञात होता है उस समय इस जीवको कोई संकट नहीं होता। तो हमें भेदविज्ञान करके इस तत्त्वज्ञानको दृढ़ करना है और उसके बलपर विकल्पोंको त्यागना है। विकल्पोंको त्यागें तो हममें बसे हुए परमात्माका दर्शन होगा और उससे ही हमें शान्ति प्राप्त होगी। अन्य उपायोंमें शान्ति नहीं है। जन्म-मरण करना, भटकना, यही इन समस्त बाह्य परिश्रमोंका फल है। संसारभ्रमण नहीं चाहिए असंसरणस्वभावी निज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि करें।

